[गोपाल श्रीकृष्ण]

भागवती कथा

(खण्ड ३)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

पञ्चम संस्करण] मार्गशीर्ष शुक्ल २०२६ [मूल्य २) रु०
१००० प्रति] दिसम्बर १९७२

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

श्री भागवत-दर्शन ::

भागवती कथा

(खण्ड ३)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

संशोधित मूल्य २-० रुपया

पञ्चम संस्करण] मार्गशीर्ष शुक्ल २०२९ [मूल्य २) रु०
१००० प्रति] दिसम्बर १९७२

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

प्राक्कथन—

हे देव ! हे .. त ! हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा ! हा !! कदा नु भवतासि पदं दृशोर्मे ?

पारसाल इन्हीं दिनों की बात है, ये ही श्रावण भादों के महीने थे। आषाढ़ की पूर्णिमा को यहाँ आकर बैठा था, कुटिया खँडहर हो रही थी। उसके आस-पास की कच्ची प्राचीर वर्षा से गिर गई थी। किसी तरह फूस की आड़ करके एक छोटा-सा घेरा बनाया। वैसे ही विनोद-विनोद में कहीं पाटल (गुलाब) की डालियाँ गाड़ दीं, कहीं यूथिका (जूही) के पौधे लगा दिये, कहीं मालती (चमेली) की लतर की डालियाँ तोड़कर खुरस दीं, कहीं छोटे-छोटे नन्हें-नन्हें दो-दो तीन-तीन अंगुल के पपीते के पेड़ रोप दिये। दो क्यारियों में विष्णु प्रिया श्रीतुलसीजी के बिरवा स्थापित कर दिये। पथ परिष्कृत करके पंक्तिबद्ध एक घास विशेष की डालियाँ गाड़ दीं। आशा नहीं थी, कि इस कंकड़ पत्थर की ऊसर-सी भूमि में ये बाल वृक्ष बढ़ जायँगे। मेरे बन्धुओं ने इस कृत्य को कुतूहल से देखा। किसी ने कहा—बढ़ने लगा परिवार। किसी ने कहा—अव्यापारेषु व्यापार है। किसी ने कहा—निष्फल प्रयास है। यहाँ काशी के कलमी आमों के पौधे कैसे होंगे ? अमरूदों का इस टीले की भूमि में बढ़ना असम्भव है। भगवान् भुवन भास्कर अपने लूले सारथि वाले

एक चक्र के रथ पर चढ़, इन सब कृत्यों को देखने नित्य आते। निशा आती। निशा रानी चुपके से ओस कण डालकर पौधों के मुख को चूम जाती, उनके कोमल अङ्गों में गुदगुदी कर जाती और भगवान मरीचिमाली को देखते ही घूँघट मारकर लजीली बहू की तरह भाग जाती। प्रातः उठकर मैं देखता—उन बाल पादपों के अङ्गों पर मोती से ओस कण लद रहे हैं। भगवान् दिनकर की दृष्टि पड़ते ही वे पिघल जाते। बाल होने से उनके तेज के सम्मुख मुरझा जाते, नतमस्तक होकर कुम्हिला जाते। संज्ञा और छाया के पति सूर्यदेव जब अपनी किरणों को बटोर कर, उन्हें लाल चद्दर में बाँधकर, अस्ताचल की ओट में छिप जाते, तब लाल साड़ी ओढ़कर स्नेहमयी भगवती निशा आती, इन पादपों को नहलाती, इनकी धूल पोंछती, कुम्हिलाये हुए अङ्गों को बार-बार चूमती चाटती। इससे वे पुनः हरे-भरे हो जाते। निशानाथ अपनी पत्नी के ऐसे व्यापार को देखकर गगन में ही हँस पड़ते। उनका हास्य छिटक जाता, बिखर जाता, जिससे वे बाल पादप चमकने लगते। इस प्रकार निशा और निशानाथ की यह क्रीड़ा नित्य प्रति होती। अंशुमाली अपनी किरणों को बरजते नहीं थे, निशानाथ अपनी शीतलता को तजते नहीं थे। पीतवस्त्रधारी, ब्रह्मचारी वृन्द दयावश, भयवश, स्नेहवश, अथवा परवश होकर प्यासे पादपों को पानी पिलाकर परम पुण्य के भागी बनते। ग्रीष्म काल में जल दान करने से बढ़कर पुण्यप्रद कार्य त्रिभुवन में कोई भी नहीं। इस पुण्य का महत्व न जानने पर भी, ब्रह्मचारी वृन्दधारी वृन्द इसे परप्रेरणा से प्राप्त करते।

इन कार्यों में किसी को उल्लास था, किसी को झुँझलाहट, किसी को आशा थी, किसी को ईर्ष्या, किसी को उत्सुकता थी, तो किसी को कुतूहल। इन सब व्यापारों को देखते हुए काल भगवान चल रहे थे। वे एक क्षण भी न रुकते थे, न चकित

तथा विस्मित ही होते थे। बड़ी तत्परता से मैं उनके मुखमण्डल की ओर निहारता उसमें कोई परिवर्तन नहीं, उनकी सहान गम्भीर चेष्टा में कोई अन्तर नहीं। उनके-लिये मानों सब खिलवाड़ है। सब बच्चे घरुआ-पाती बनाकर खेल रहे हैं। यह मेरा बाग, यह मेरा घर, यह मेरी दूकान, यह मेरा व्यापार। बच्चे यद्यपि उस धूल से यह सब बनाकर उसमें ममत्व कर रहे थे, लड़ रहे थे। मैं मेरा, तू तेरा—कहकर झगड़ रहे थे, किन्तु बच्चों की बात को क्या महत्व देना, ये तो बालक ही ठहरे। दिन होता, रात्रि हो जाती, रविवार होता, कुछ लोग नमक छोड़कर एक समय ही खाते, सूर्य का व्रत करते। सोमवार होता, शिवजी की पूजा का दिन है, वेलपत्र खोजते, मङ्गल होता, तो ज्योतिषी बताते आप पर मङ्गल देव की ग्रह है। चना खाओ, मङ्गल-व्रत करो। वह करता ही रहता, बुध आ जाते, ये सोम के सुत हैं, तारा के तनय हैं। यह बहुत अनिष्ट नहीं करते, फिर भी जन्म स्थान में चौथे, आठवें और बारहवें में दुःख तो देते ही हैं। दूसरे दिन देव गुरु वृहस्पति का दिन आ जाता। पीला खाओ, पीली वस्तु का दान करो। ये देवगुरु ब्राह्मणों पर सदा सौम्य रहते हैं, विद्या के दाता हैं। रात्रि बीती शुक्र देवता आ गये। देवता होने पर भी ये दैत्यों और असुरों के गुरु हैं। एक आँख से देखते हैं। एकाक्षी की जैसी दृष्टि होती है, सभी जानते हैं। यात्रा में सामने पड़ जायँ, तो गोविन्दाय नमो नमः। दूसरे दिन चींटी की तरह रेंगने वाले शनीवार आ गये। शनैः-शनैः चरणों के कारण ही ये शनैश्चर हैं। भगवान् इनकी दृष्टि से बचावें। अपनी बहूरानी के शाप से ये सदा दृष्टि नीची किये रहते हैं। जिसकी ओर इन्होंने देख दिया बस समझ लो उनका स्वाहा हो गया। बात की बात में एक सप्ताह हो गया। तिथि के हिसाब से आज सप्तमी हो गई। इसी भाँति चौदह

दिन बीते, कृष्णपक्ष समाप्त। अब लगा शुक्लपक्ष। सभी मुदित होते, अब तो इस पक्ष में चन्द्रमा निकलेंगे। मानों कृष्णपक्ष में चन्द्रमा कहीं छिप गये थे। मनुष्य प्राणी कितना स्वार्थी है। कृष्णपक्ष में भी चन्द्रमा उतने ही रहते हैं, जितने शुक्लपक्ष में, किन्तु कृष्णपक्ष में प्रायः वे तब उदित होते हैं, जब हम सोते ही रहते हैं। अतः हमारे लिये उनका उदय होना न होना बराबर ही है। शुक्लपक्ष में हमारे सोने से पहिले ही वे हँस जाते हैं, अतः वह शुक्लपक्ष, शुभ्र, सफेद पक्ष है। दो पक्ष मिल गये, श्रावण समाप्त हुआ। राखी बाँधने भादौं बहिन आई थीं, महीने भर सबके कहने से रह गईं। ग्यारह महीनों रूपी भाइयों की यह इकलौती बहिन है, इसलिये इस पर सब भाइयों का प्यार है। श्रीकृष्ण भी इसी में उत्पन्न हुए। वामन भगवान् का भी अवतार इसी में हुआ, गणेशजी भी इसी की चौथ को हुए। चन्द्रमा का देखना भी पाप समझा जाता है। अनन्त भगवान् का व्रत भी इसी में होता है। हाथों में पीला-पीला अनन्त बांधते हैं। इस प्रकार भादौं बाई सबकी प्यारी हैं। सब खेत हरे-हरे हो जाते हैं, पृथ्वी शस्य-श्यामला बन जाती है। साठी धान पक जाते हैं, ककड़ी, नेनुआ, लौकी, तोरई सभी साग इस महीने में खाने को मिलते हैं। श्राद्धपक्ष भी इसकी पूर्णिमा से आरम्भ होते हैं। बहिन का आलिङ्गन करके, भैया आश्विन ने रोते रोते बहिन को विदा किया। जाते-जाते झर-झर आँसू बहाती हुई भादौं बहिन गई। क्वार आ गये। आश्विन में उत्सव ही उत्सव। पन्द्रह दिन ब्राह्मणों का स्वराज्य हो जाता है, जिस घर में देखो वहीं खीर घुट रही है, छन छन करती हुई पूड़ियाँ छन रही हैं, मोहन भोग की मीठी-मीठी सुगन्धि आ रही है। पन्द्रह दिन इतना खाओ कि सब कसर निकाल लो, अगला वर्ष किसने देखा है? शरदोत्सव की खीर सपोटते हुए ही क्वार

गये, कार्तिक आये। छोटी बड़ी दिवाली, गोवर्धन, अन्नकूट, भैयादूज, देवठान आ गया। पूरा महीना ही शुभ है। पौष को दूर से ही प्रणाम। मकर की संक्रान्ति पड़ गई, तो खिचड़ी मिल गई, नहीं तो सूखी दण्ड पेलो। माघ में तो बड़ा जाड़ा है और इस प्रयाग की तो कुछ पूछो मत। तिस पर भी सूर्योदय में गङ्गाजी स्नान। नानी याद आ जाती है। यदि सूर्यतनया का गरम-गरम जल न हो, तो संगम में स्नान करने का साहस किसे पड़े? वसन्तोत्सव मनाते आमों पर बौर दिखाई देने लगता है। होली की स्थापना हो जाती है।

फागुन में गुलाल उड़ाओ, होली खेलो। इस पराधीन देश की होली तो हो ली। अब वह चालीस दिनों की धूमधाम कहाँ है? अब वह महीनों से बालकों की रङ्ग की भरी पिचकारियाँ कहाँ दिखायी देती हैं? धूलि के दिन कुछ नाम मात्र को रङ्ग दीखता है। चैत में नवसंवत्सर उत्सव की धूमधाम नवरात्रि, रामनवमी करो, बैशाख आ गये, महिने भर गङ्गा स्नान करो, स्वर्ग का फाटक न खुल जाय तो मुझे उलटा लटका देना। ज्येष्ठ में दशहरा के दिन गङ्गा स्नान करो। आषाढ़ी पूर्णिमा को गुरु-पूजा-उत्सव। वर्षा आरम्भ हो गई। श्रावण आ गया, हरियाली तीज, नाग पञ्चमी, श्रावणी। बोल दे राजा रामचन्द्र की जै—पूरा वर्ष समाप्त हो गया।

एक साल में पाटल (गुलाब) खिलने लगे, केले बड़े होकर हर-हर करके हिलने लगे। पंक्तिबद्ध घास के बिरवे परस्पर में सटकर मिलने लगे। गुलाब, यूथिका, माधवी, मालती की लतायें बढ़कर छत पर चढ़ गईं। पपीतों पर फल आने लगे। बैजन्ती के लाल गुलाबी फूल खिलकर चारों ओर अपनी आभा बिखराने लगे। विष्णुकान्त के नीले-नीले पुष्प खिलने लगे, रोज माधवजी को चढ़ने लगे। सबने उन्नति की, सब बढ़े, सब फले फूले, सबके

बीज जमकर वृद्ध हो गये, किन्तु मैं अभागा निकला, कि मैंने कुछ भी उन्नति न की। मेरे मरु हृदय में भक्ति का बीज जमकर अंकुरित नहीं हुआ, फिर हरे-भरे होने और फलने फूलने की बात पृथक् ही रही। यह कैसे कहूँ, कि शरीर में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। इस परिवर्तनशील शरीर में तो कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता ही रहता है, किन्तु मन जैसा-का-तैसा बना है। हृदय में प्रेम नहीं, भगवान् के प्रति अनुराग नहीं, भागवतों के चरणों में भक्ति नहीं, विषयों से विरक्ति नहीं, प्रभु पादपद्मों में अनुरक्ति नहीं। जीवन भर के भार पूर्ववत् ढो रहा हूँ, उसी प्रकार रो रहा हूँ, आयु का अमूल्य समय आहार निद्रा में बिताकर खो रहा हूँ, अज्ञान अन्धकार में पड़ा सो रहा हूँ। जीवन की साध पूरी नहीं होती। भगवान् के स्वप्न में भी दर्शन नहीं होते। बहुत से बन्धु पूर्णिमा को आते हैं, अपने-अपने अनुभव सुना जाते हैं—हमें ऐसे भगवान् के दर्शन हुए, तीन महीने में ही भगवान् ने प्रत्यक्ष होकर वर माँगने को कहा। ऐसे रूप से भगवान् के दर्शन हुए। मैं उनकी इन बातों पर विश्वास नहीं करता—हुए होंगे। पूर्वजन्म के पुण्य उदय हो गये होंगे, किन्तु मेरे पाप मुझे भगवान् से दूर हटाये हुए हैं। कब मिलायेंगे, कब अपने दर्शन देकर तन की तपन बुझायेंगे? इसे वे ही जानें। यह मेरा जीवन भर का रोना है, सम्भव है जीवन भर ही रहे। पाठकों का अमूल्य समय में अपना रोना, धोना सुनाकर बरबाद क्यों करूँ, वे तो 'भागवती कथा' के ही प्रेमी पाठक हैं। परम भागवत हैं, तभी कुछ कहने का साहस भी हुआ, भागवतों के अतिरिक्त पराई पीर को कौन सुनता है? सभी को अपनी-अपनी पड़ी है। भक्त ही परोपकारी होते हैं, उन्हीं का हृदय परपीड़ा से पिघलकर पानी-पानी हो जाता है। वे कृपा करें, तो मुझ जैसे साधनहीन उभयभ्रष्ट का भी उद्धार हो सकता है। 'भागवती कथा के साथ उन्हें मेरा भी

स्मरण बना रहे, इसलिए ही यह अप्रासंगिक बात कह दी। अच्छा तो अब कथा आरम्भ हो। श्रीहरि! श्रीहरि! श्रीहरि!

हाँ तो प्रथम खण्ड में आपने कहाँ तक की कथा पढ़ी? नारदजी व्यासजी को अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुना रहे थे, दासी के पुत्र होकर वे साधु सेवा कर रहे थे। दूसरे खण्ड मे उन दयालु सन्तों का दुःखद वियोग हुआ, पुनः नारद शरीर की प्राप्ति हुई, महाराज परीक्षित् के जन्म तक की कथा आपने दूसरे खण्ड में पढ़ी थी। अब इस तीसरे खण्ड में धर्मराज के अश्वमेध आदि की कथा पढ़ें। हमारा और पाठकों का ऐसा ही सम्बन्ध बना रहा तो ५०, ६०, १००, २००, जितने भाग भी हों, उन सबको प्रेमपूर्वक पढ़ें। अच्छा तो नमस्कार!

कृपा दृष्टि बनाये रखें

भाद्रपद की कृष्णा तृतीया, सं० २००३ वि०
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)

पाठकों का कृपा भिक्षुक—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

धर्मराज का अश्वमेध यज्ञ करने का विचार

(४१)

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया ॥*

(श्री भा० १ स्क० १२ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

पुरुष-पुरुष प्रति पेखि परीक्षा करें सबनि में ।
गर्भ माँहि जो लख्यो ताहि वे लखहिँ नरनि में ॥
हरि हयमेध हितार्थ, हस्तिनापुर फिरि आये ।
देखत दौरे गोद बैठि हर्षे किलकाये ॥
बोले विप्र बचन सुफल, कृष्ण अङ्क में निरखि सुत ।
नाम 'परीक्षित' तें विदित, होवें नृप अति भक्तियुत ॥

मनुष्य दुखी कब होता है ? जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती। इच्छा किसकी पूरी नहीं होती ? जो कि विषयों के भक्त हैं, विषयों के भोग से कभी किसी की इच्छा पूरी नहीं होती,

---

* धर्मराज के बुलाने पर भगवान् वासुदेव पुनः हस्तिनापुर में आये और उन्होंने वेद की विधि जानने वाले विप्रों से यथाविधि अश्वमेध यज्ञ कराया। अपने सच्चे सुहृद् पाण्डवों की प्रसन्नता के निमित्त कुछ महीनों तक और भी पाण्डवों के समीप रहे।

किन्तु और बढ़ती है। जो विषयों के भक्त न होकर भगवत्-भक्त हैं, उन्हें पहले तो कोई इच्छा होती ही नहीं। वे अपनी इच्छा को भगवान् की इच्छा में मिला देते हैं। यदि भगवत प्रेरणा से कोई इच्छा उठती भी है, तो वह चाहे कितनी भी कठिन क्यों न हो, वह पूरी होती ही है, फिर चाहें उसकी पूर्ति के कुछ भी साधन अपने पास भले ही न हों, किन्तु जिनके संकल्प मात्र से इतनी चराचर सृष्टि हो जाती है, इनके लिये संसारी साधारण सामग्रियों के कार्य क्या कठिन हैं ?

महाराज परीक्षित् अत्यन्त दुलार से, भीतर बाहर के अत्यधिक प्यार से, उसी प्रकार बढ़ने लगे जैसे शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलायें बढ़ती हैं। इतने बड़े रनिवास में वे अकेले ही बच्चे थे। अतः घर की समस्त स्त्रियों ने अपना प्यार उन्हीं पर उड़ेल दिया था। जिस प्रकार पलकों से आँखों की पुतलियाँ बड़ी सावधानी से रक्षित रहती हैं, उसी प्रकार वे घर में अपनी माता, पितामही, प्रपितामही, चाची, ताई आदि के द्वारा बड़ी सावधानी से पाले-पोसे जाने लगे। उन्हें कुछ भी कष्ट हो जाता तो, पूरे रनिवास मे शोक छा जाता और भाँति-भाँति के उपचारों और उपायों द्वारा उसकी शान्ति की जाती। विविध प्रकार के दान-धर्म किये जाते, पाठ-पूजा और देवार्चन कराये जाते। सारांश यह कि सभी परिवार के लोग उनकी उसी तरह रक्षा करते थे, जैसे अत्यन्त कंजूस अपनी कौड़ी-कौड़ी की रक्षा करता है।

पाँचों पांडवों के तो बाहरी प्राण ही थे, जब भी अवसर होता, महाराज युधिष्ठिर उन्हें अन्तःपुर से मँगा लेते और अपनी गोद में बिठाकर घण्टों उनके साथ खेल किया करते। बालक परीक्षित् जब भी सभा में आते, तभी वहाँ के पुरुषों को एक-एक करके बड़ी एकाग्रता के साथ निहारा करते। उन्हें जन्म से ही इसी प्रकार सबकी ओर ध्यानपूर्वक देखने से धर्मराज को

बड़ा विस्मय हुआ, कि बालक क्यों सबको इस प्रकार देखा करता है ? उन्होंने अन्तःपुर की दासियों से पूछा—"क्या यह भीतर भी इस प्रकार से देखता है ?"

दासियों ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"देव भीतर तो ये बड़े सौम्य रहते हैं। अपनी माँ की ओर भी दृष्टि भरके नहीं देखते, किन्तु बाहर आते ही जो भी पुरुष इनके सामने आता है, उसी को बड़ी सावधानी से एक टक भाव से निहारते रहते हैं।"

इससे धर्मराज को और भी विस्मय हुआ, कि बालक क्यों सबकी ओर एकाग्र होकर देखता रहता है ? उन्होंने विद्वान ब्राह्मणों से, ज्योतिषियों से, पण्डितों और पुरोहितों से इसका कारण पूछा। ब्राह्मणों ने बताया—"महाराज ! ये किसी को खोज रहे हैं।"

धर्मराज ने कहा—"किसे खोज रहा है, अपने बाप को खोजता है या किसी देवता ऋषि को खोजता है ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज ! बाप को तो इन्होंने देखा ही नहीं। इन्होंने किसी को गर्भ में देखा है, उसी की ये मनुष्यों में परीक्षा करते हैं, कि वह पुरुष कौन है, जिसने गर्भ में मेरी रक्षा की। पुरुषों में उसे न पाकर ये रोज नये-नये पुरुषों में खोजते हैं, कि सम्भव है अब वह मिल जाय, अब मिल जाय। सबकी परीक्षा करने से ही इनका प्रसिद्ध नाम 'परीक्षित्' ही होगा। 'विष्णुरात' नाम को तो कोई विरले ही जानेंगे, किन्तु परीक्षित् नाम तो सभी की जिह्वा पर नृत्य करता रहेगा।" धर्मराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वे उन्हें परीक्षित् कह कर सम्बोधित करने लगे। राजा के कहने से और भी उन्हें परीक्षित्-परीक्षित् ही कहने लगे। तभी से वे सर्वत्र परीक्षित् के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

शत्रु मारे गये, अपना गया हुआ राज्य पुनः प्राप्त हो गया। पृथ्वी के सभी राजा अपने अधीन हो गये। वंश को बढ़ाने वाला पौत्र भी हो गया। अब धर्मराज ने सोचा—"हमने कुल का संहार किया है, जाति द्रोह का पाप किया है, सगे सम्बन्धियों को मारा है, इसका कुछ प्रायश्चित्त तो होना ही चाहिए, यह सब सोचकर उन्होंने व्यास धौम्य, कृपाचार्य आदि अपने कुलपूज्य पुरोहितों को तथा अन्यान्य ज्ञानी-ध्यानी ऋषि मुनि तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर अपने मन का भाव बताया और पूछा—'इस जाति द्रोह जनित पाप का मैं क्या प्रायश्चित्त करूँ ?"

तब ब्राह्मणों ने विचार कर बताया—"राजन् ! क्षत्रिय के लिये युद्ध में शस्त्र लेकर लड़ने की इच्छा से आये हुए शत्रु को मार देना कोई पाप नहीं है। फिर भी युद्ध में अनेक तरह के पातक, उपपातक हो जाते हैं। युद्ध के उपरान्त यदि राजा अश्वमेध-यज्ञ कर देता है, तो वह सब पापों से निर्मुक्त होकर निष्पाप बन जाता है। आप भी अश्वमेध-यज्ञ करके अपने युद्ध जनित दोष को छुड़ाकर निर्दोष बन जाइये। वास्तव में तो आप अब भी निर्दोष हो हैं, किन्तु फिर भी लोक संग्रह और धर्म मर्यादा को बनाये रखने के निमित्त आप जो कुछ करना चाहते हैं, सो कीजिये। बड़ी अच्छी बात है।"

धर्मराज ने दुखित होकर कहा—"ब्राह्मणो ! मेरे पाप अन्य युद्ध करने वाले राजाओं से बहुत बढ़कर हैं। मैंने तीन बड़े-बड़े पाप किये हैं। एक तो अपने बन्धु-बान्धव और कुल गोत्र वालों को ही मार डाला है, दूसरे अपने भीष्म, द्रोण आदि गुरुओं को मारा है, जो सर्वथा अवध्य बताये गये हैं। तीसरे मूर्धाभिषिक्त हजारों बड़े-बड़े धर्मात्मा राजाओं का वध किया है। इस प्रकार

बन्धु-वध, गुरु-वध, और राज-वध ये तीन महापाप मेरे द्वारा हुए हैं। अतः आप मुझसे तीन अश्वमेध यज्ञ कराइये।"

महाराज के ऐसे वचन सुनकर सभी ने एक स्वर से "धन्य! धन्य" कहा। ब्राह्मण प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"धर्मावतार! ये आपके अनुरूप ही वचन हैं। पाप आप में हैं ही नहीं! जब हैं ही नहीं तो छूटेंगे क्या? किन्तु तीन यज्ञों से आपका यश समस्त पृथ्वी पर और अधिक फैल जायगा। आपका विचार बहुत ही सुन्दर है। हम सब मिलकर उत्तम विधि के साथ आपका यज्ञ करावेंगे। आप भगवान् वासुदेव को बुला लें, क्योंकि समस्त यज्ञों के अधिपति वे ही हैं। समस्त यज्ञ उन्हीं की प्रसन्नता के निमित्त किये जाते हैं। उनका पधार जाना ही यज्ञ की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि समझी जाती है। वे आ गये, मानो आपका यज्ञ पूर्ण हो गया।"

ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर द्वारिका से लौटकर आये हुए अर्जुन को ही पुरोहित धौम्य के सहित धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान् को लेने पुनः द्वारिका भेजा। धर्मराज का सन्देश पाते ही भगवान् वासुदेव अपने बन्धु-बान्धव और जातियों के सहित पुनः हस्तिनापुर पधारे। नगर में पुनः आनन्द की बाढ़-सी आ गई। सभी भगवान् के दर्शनों के लिये अत्यधिक उत्कंठित हुए। बड़ी धूम-धाम और गाजे-बाजे के साथ धर्मराज ने भगवान का स्वागत किया, बहुमान के सहित उन्हें सभा में लाये। वहाँ पुरोहितों ने विधिवत् भगवान् को पाद्य-अर्घ्य देकर उनकी पूजा की। धर्मराज ने उनसे कुशल पूछी। भगवान् ने भी धर्मराज के राजकोष, मन्त्री, पुरोहित, अन्तःपुर, सेना, नगर आदि की कुशल पूछी। इतने में ही सहदेव बालक परीक्षित् को गोदी में ले आये।

भगवान को देखते ही परीक्षित्‌जी छोटे होने पर भी सम्पूर्ण बल लगाकर गोद से कूदने लगे। सहदेव उन्हें बहुत रोकते,

किन्तु वे मानते ही नहीं थे। बालक की ऐसी हट देखकर दूर से ही धर्मराज बोले—"सहदेव! भैया, इसे छोड़ तो दो, देखें, यह क्या करता है?"

धर्मराज की आज्ञा पाकर सहदेव ने वहीं सभा के नीचे बालक परीक्षित् को छोड़ दिया। वे बड़े वेग से घुटनों के बल

श्रीभगवान् की ओर चलने लगे। भगवान् के सिंहासन के समीप पहुँचकर उनके पैरों को पकड़कर उनकी गोदी में जा बैठे और आँख फाड़-फाड़कर भगवान की ओर देखने लगे। सभी बालक के इस कार्य को कुतूहल के साथ देखने लगे। बालक बार-बार भगवान् की ओर देखता और प्रसन्न होता। फिर भगवान् के श्रीहस्तों को देखता तो उसकी मुद्रा आश्चर्य की हो जाती।

इस पर धर्मराज ने व्यासदेवजी से पूछा—"भगवन ! यह बालक भगवान् के श्रीमुख को देखकर तो प्रसन्न होता है, किन्तु कर कमलों के दर्शन से विस्मित-सा प्रतीत होता है, इसका क्या कारण है ?"

व्यासजी ने कहा—"राजन ! इसने भगवान् को अपनी रक्षा करते हुए गर्भ में गदा लिये हुए देखा है अब मुख देखकर तो पहिचान जाता है, किन्तु गदा न देखकर विस्मित हो उठता है। यदि भगवान् वासुदेव गदा धारण करके अपना वही चतुर्भुज रूप दिखावें, तो यह अत्यन्त ही प्रसन्न हो उठे।"

व्यासजी और धर्मराज के कहने पर भगवान ने वही अपना शंख, चक्र, पद्म और गदा लिये हुए चतुर्भुज दिव्य रूप दिखाया। उसे देखते ही बालक अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् से लिपट गया और भगवान् ने भी उनका मुँह चूमकर उसे बहुत प्यार किया।

अब अश्वमेध यज्ञ की बात होने लगी। धर्मराज कहने लगे—"वासुदेव ! यह तो आपको विदित ही है, कि मैं सर्वश्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ करना चाहता हूँ। सो भी, एक नहीं, एक साथ तीन यज्ञ करने की मेरी इच्छा है। राजाओं के पास यज्ञ-यागादि शुभ कर्मों के लिये धन या तो प्रजा के कर से आता है या दण्ड से। प्रजा पर मैं विशेष कर लगाना चाहता नहीं। दंड देकर

द्रव्य संचय करने की मेरी इच्छा नहीं। अन्य राजाओं से भी धन की आशा नहीं क्योंकि महाभारत के युद्ध में सभी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर नष्ट हो गये। कौरवों ने अपना सम्पूर्ण कोष युद्ध में व्यय कर दिया। अब मुझे चिन्ता इस बात की है, कि बिना द्रव्य के मेरे यज्ञ साङ्गोपाङ्ग कैसे होंगे। हमारे तो एक-मात्र द्रव्य आप ही हैं। आप आ गये तो मानों हमारा यज्ञ पूर्ण हो गया। अब आप जैसे चाहें यज्ञ को करावें, अब मैं निश्चिन्त हो गया।" इतना कहकर और अपना सर्वभार श्रीकृष्ण के ऊपर डालकर—अपनी इच्छा को कृष्णार्पण करके महाराज धर्मराज चुप हो गये।

धर्मराज के चुप हो जाने पर भगवान् वासुदेव उनसे बोले—"महाराज, आप किसी बात की चिन्ता न करें। मैं आपके सभी मनोरथों को पूर्ण करूँगा। जब आप सम्पूर्ण वसुन्धरा के ही स्वामी हो गये, तो आपको धन की क्या कमी ? जो पापी राजा होते हैं, उनके पाप के कारण यह पृथ्वी सम्पूर्ण रत्नों को अपने भीतर छिपा लेती है। वे पापी, नीच, अधर्मी राजा पैसे-पैसे के लिये परमुखापेक्षी बने रहते हैं प्रजा पर कर के ऊपर कर लगाते हैं, ऋण माँगते, प्रजा को सताते हैं, फिर भी उनका पूरा नहीं पड़ता। ऋद्धि, सिद्धि और समृद्धि तो भावानुसार होती हैं। जो धर्मात्मा राजा हैं, उनके लिये यह पृथ्वी कामधेनु हो जाती है। अपने वसुन्धरा (वसु-धन को जो धारण करे। जिसके गर्भ में सभी प्रकार के धन भरे हों) नाम को सार्थक करती है। आप तो धर्मात्मा है, धर्म के अवतार ही हैं। आपको धन की क्या कमी ? प्राचीन काल में महाराज करन्धम के पुत्र मरुत्त नाम के बड़े यशस्वी हो गये हैं। उन्होंने अपने कुल—गुरु सम्वर्त की सहायता से एक ऐसा समृद्धिशाली यज्ञ किया था, कि ऐसा पृथ्वी पर न आज तक किसी ने किया और न कर ही

सकेगा। उस यज्ञ में यज्ञ के सभी सामान सुवर्ण के थे यहाँ तक कि भवन, प्रसाद सभी सुवर्णमय थे। उस यज्ञ में राजा ने इतना सुवर्ण दान दिया कि ब्राह्मण उसे उठाने में समर्थ नहीं हुए। वहीं उसे छोड़कर चले आये। वहाँ यज्ञ की इतनी सुवर्णमय सामग्री पड़ी है कि आप लाखों छकड़े, हाथी, ऊँट भरके सुवर्ण वहाँ से ला सकते हैं।"

धर्मराज ने कहा—"वासुदेव! ब्राह्मणों के छोड़े हुए—यज्ञ के बचे धन पर हमारा क्या अधिकार है? उससे क्या यज्ञ करना उचित होगा?"

भगवान् बोले—"राजन्! आप समस्त पृथ्वी के एकमात्र सम्राट् हैं। पृथ्वी पर जितने वन, कानन, पर्वत, वृक्ष और धातुएँ हैं, सभी के आप स्वामी हैं। उस धन पर आपका पूर्ण स्वत्व है। आप शिवजी का पूजन करके निःशङ्क होकर उस धन को मँगाइये और उसी से यज्ञ के समस्त सम्भारों को सजाइये, अपने यज्ञ को पूर्ण बनाइये।"

धर्मराज बोले—"वासुदेव! यदि आपकी आज्ञा है, तब तो अनुचित भी हो तो भी उचित है। विधि निषेध निर्माता तो आप ही हैं। मैं महाराज मरुत्त के यज्ञ का और उनके इतने विपुल धन की प्राप्ति का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। उसे सुनकर तभी मैं वहाँ से धन मँगाकर यज्ञारम्भ करूँगा।"

भगवान् बोले—"राजन्! महाराज मरुत्त का सम्पूर्ण इतिहास सत्यवतीनन्दन मुनिवर व्यास आपको सुनावेंगे। इतना कहकर भगवान् चुप ही हो गये।"

छप्पय

सोचें राजा हने नृपति सम्बन्धी सबई।
जब होवें हयमेध टरिंगे पातक तबई॥
मम चिन्ता तें भला कहो का काज सरिंगे।
वे होवें सम्पन्न जाहि श्रीकृष्ण करिंगे॥
हरि भक्तनि के काज प्रभु, करता बनि कर तें करें।
जे शरणागत ह्वै गये, तिनके सब दुख हरि हरें॥

मरुत्त का यज्ञधन और धर्मराज का अश्वमेध यज्ञ

[४२]

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः ।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ॥
तेन संभृतसंभारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० १२ अ० ३३ ३४ श्लो०)

छप्पय

कुन्तीनन्दन कहें—"कृष्ण ! किहि विधि मख होवें ।
कौन काज करि कहो कालिमा कुल की धोवें ?
छठे अंश अरु दण्ड द्रव्य तें काम चलावें ।
भूमिपाल कौ जिही वेदवित वृत्ति बतावें ॥
हरि बोले—"हिम शिखर पै, धन है विपुल मरुत्त को ।
लाइ करौ मख जिही तौ, सदुपयोग है वित्त को ॥

---

* महाराज युधिष्ठिर का अभिप्राय जानकर भगवान् वासुदेव की आज्ञा से भीमसेन आदि चारों भाई उत्तर दिशा से मरुत्त के यज्ञ से छोड़े धन को विपुल मात्रा में ले आये । उसी धन से यज्ञ की सभी सामग्रियाँ एकत्रित की गईं, जिनसे तीन अश्वमेध यज्ञों द्वारा महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् वासुदेव का ही पूजन किया । 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ।'

असत्य से सत्य श्रेष्ठ है। ऐश्वर्योपयोगी से त्याग श्रेष्ठ है। विरोध से क्षमा श्रेष्ठ है। अधर्म से धर्म श्रेष्ठ है और अपने सर्वकर्मों को श्रीकृष्ण पादपद्मों में अर्पण कर देना, उन्हीं को अपना सम्पूर्ण भार सौंप देना यह सबसे श्रेष्ठ है। इससे बढ़कर संसार में सर्वश्रेष्ठ कार्य कोई नहीं। महाभाग पांडवों ने ऐसा ही किया।

यज्ञ के लिये विपुल द्रव्य की आवश्यकता थी। साधारण द्रव्य से तो अश्वमेध जैसे महान् यज्ञ हो नहीं सकते और पाण्डवों के पास उतना द्रव्य नहीं, सभी कोष युद्ध रूपी यज्ञ में व्यय हो चुका था। जब भगवान ने हिमालय के गन्धमादन शिखर से मरुत्त के यज्ञ-शेष द्रव्य को लाने की आज्ञा दी, तो धर्मराज ने समीप में बैठे हुए भगवान वेदव्यास से पूछा—"प्रभो! ये महाराज मरुत्त कौन थे? कैसे इनका इतना बड़ा वैभव हुआ? किस प्रकार इन्हें इतनी विपुल धन-राशि प्राप्त हुई और उसे वहाँ इस प्रकार वे क्यों छोड़ आये? मेरे इन सब प्रश्नों का आप अति संक्षेप में उत्तर दें, तो मैं अपने भाइयों को भेजकर श्रीकृष्ण की आज्ञा से उस द्रव्य को मँगाने का प्रबंध करूँ।"

महाराज के ऐसे पूछने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ सत्यवतीनन्दन पराशर-आनन्दवर्धन भगवान् वेदव्यास कहने लगे—"राजन्! सुनिये! मैं परम यशस्वी इन्द्र तुल्य ऐश्वर्य वाले महाराज मरुत्त का और उनके विपुल वित्त और महान् यज्ञ का वृत्त बताता हूँ। आप अपने भाइयों के सहित सावधान होकर श्रवण करें।

पूर्व जन्म में एक करन्धम नाम के बड़े प्रतापशाली राजा हो गये हैं। अब जैसे तुम्हारे पुरोहित धौम्य और कृपाचार्य हैं उसी प्रकार उन धर्मात्मा राजा के पुरोहित वेदवेत्ता सर्वशास्त्र पारङ्गत महामुनि अङ्गिरा थे। अङ्गिरा ही उन्हें सब देव, ऋषि

तथा पितृ-कार्य कराया करते थे। अङ्गिरा ऋषि के दो पुत्र थे। बड़े तो बृहस्पति और छोटे सम्वर्त। बृहस्पति को देवराज इन्द्र ने अपना पुरोहित बना लिया। दोनों भाइयों में कुछ अन-बन रहती थी। राजन्! भाई-भाई में, पिता-पुत्र में, मित्र-मित्र में, सम्बंधियों में, परस्पर में जो अन-बन हो जाती हैं, इसका प्रधान कारण ऐश्वय, यश और इन्द्रिय विषय ही होते हैं। भोग की लालसा से ऐश्वर्य में मदान्ध होकर मनुष्य अपने सगे सम्बन्धियों तक का तिरस्कार करने लगता है। विप्रवर सम्वर्त ने अपने श्रेष्ठ भाई से विरोध बढ़ाना उचित नहीं समझा। वे अपना सर्वस्व त्यागकर विश्वनाथपुरी वाराणसी में जाकर दिगम्बर वेष से भगवान् भूतनाथ की आराधना करने लगे और इधर-उधर गलियों में पागल उन्मत्त की भाँति विचरने लगे।

अब तो अङ्गिरा मुनि के द्रव्य के तथा उनके कुल परम्परा गत यजमानों के एकमात्र उत्तराधिकारी बृहस्पतिजी ही हुए। महाराज करन्धम के अनन्तर उनके पुत्र मरुत्त राज्य सिंहासन पर बैठे। बृहस्पति अपने यजमान महाराज मरुत्त को उसी प्रकार देव, ऋषि तथा पितृ कार्य कराने लगे, जिस प्रकार महामुनि अङ्गिरा महाराज करन्धम को कराते थे। महाराज मरुत्त इतने बलवान्, गुणवान् और ऐश्वर्यवान थे, कि उनका ऐश्वर्य देखकर देवराज इन्द्र भी स्पर्धा करते थे। राजन्! मुक्ति-मार्ग में यह ईर्ष्यारूपी दोष ही सबसे बड़ा विघ्न है। पृथ्वी के जीवों से लेकर ब्रह्मलोक तक के जीवों में यह दोष देखा गया है। एक ही वृत्ति वाले पुरुष अपने से श्रेष्ठ को देखकर डाह करते हैं। दो विद्वान् आपस में एक दूसरे के विद्वता-यश को देखकर कुढ़ते हैं। धनी-धनी को देखकर डाह करता है। स्वर्ग के देवता अपने से अधिक सुख भोगने वाले को देखकर जलते हैं। इसी दोष के कारण जीव भगवत्-पाद-पद्मों तक नहीं पहुँच पाते। यदि यह

एक ही दोष छूट जाय, तब तो जीव नित्य, शुद्ध, मुक्त बना बनाया ही है। देवराज इन्द्र भी महाराज मरुत्त से डाह करने लगे। वे सोचने लगे—"देखो, मैं स्वर्ग का समस्त देवताओं का राजा हूँ। फिर भी मर्त्य-धर्म वाले पृथ्वी के राजा मरुत्त के समान मेरा ऐश्वर्य नहीं। किसी प्रकार इसके धर्म कार्यों में विघ्न करना चाहिये, नहीं तो पृथ्वी से आकर यहाँ स्वर्ग में यह मेरी बराबरी करेगा और कोई आश्चर्य नहीं, यह मुझसे इन्द्र पद भी छीन ले।"

यही सब सोच विचार कर ईर्ष्यावश इन्द्र ने अपने गुरु बृहस्पति को बुलाकर कहा—"हे देवगुरो! आप राजा मरुत्त को जो देव, ऋषि, पितृ कार्य कराते हैं वह न कराया करें। इसमें मेरी अप्रतिष्ठा है। आप दिव्य देवताओं के गुरु होकर भी एक मर्त्यधर्मा मनुष्य को क्यों धर्म कार्य कराते हैं। आप देवगुरु कहलाकर भी मनुष्यों के पुरोहित कहलाने में अपना अपमान नहीं समझते? देखिये, मैं दो टूक बात कहता हूँ। मैं लगाव लपेट की बात करना नहीं जानता। आप यदि मेरे पुरोहित रहना चाहें, तो राजा मरुत्त का कोई भी कार्य कभी न करावें और यदि आप को उसी की पुरोहिताई प्रिय है तो मेरा नमस्कार ग्रहण करें। हमारी आपकी राम-राम, श्याम-श्याम! बोलिये, आपको इन दो बातों में से कौन करनी है?"

बृहस्पतिजी चक्कर में फँसे। वे सोचते थे—दोनों ओर से माल उड़ावें। इन्द्र की बात सुनकर थोड़ी देर तक वे अपने हानि-लाभ के विषय में विचार करते रहे। अन्त में वे इसी निर्णय पर पहुँचे, कि देवराज की पुरोहिती बनाये रखने को मुझे पृथ्वीपाल की पुरोहिती का ही त्यागकर देना चाहिये। ऐसा निर्णय करके वे बोले—"देवराज! इन्द्र! आपकी और राजा मरुत्त की क्या बराबरी? आप स्वर्ग के राजा हैं, वे पृथ्वी के। आप देवताओं

के स्वामी हैं, वे मरणशील मनुष्यों के। आप अजर, अमर और यज्ञ भाग-भोक्ता हैं और मरुत्त तो स्वयं मरण-धर्मा हैं। उनके पीछे मैं आपका परित्याग कैसे कर सकता हूँ ? यद्यपि उनकी पुरोहिती करने से अब मेरी अपकीर्ति ही है, कि देवराज के पूज्य पुरोहित एक मरणशील राजा के यज्ञ में स्रुवा लेकर यज्ञ कराते हैं, किन्तु शील संकोच से और कुल परम्परागत वृत्ति के कारण मैं उनके धर्म कार्य करा देता था। अब जब आप मना करते हैं, तो क्यों कराने लगा। यदि अब वे आवेंगे, तो मैं उनसे कह दूँगा, कि अब मैं आपके कार्य कराने में असमर्थ हूँ।"

इन्द्र ऐसा उत्तर सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। न जाने क्यों जीव अपने प्रतिस्पर्धी का पराभव देखकर प्रसन्न होता है। इन्द्र ने समझा कि अब मैंने मरुत्त को उसके उत्तम ऐश्वर्य से भ्रष्ट कर दिया। कोई बात छिपी तो रहती नहीं। मरुत्त ने जब यह सम्वाद सुना तो वे बड़े दुखी हुए। उनकी इच्छा हुई कि मैं एक बड़ा समृद्धिशाली यज्ञ करूँ, जैसा आज तक किसी ने न किया हो। यही सब सोचकर वे कुलगुरु बृहस्पति के पास गये और अपना अभिप्राय उन पर प्रकट किया। राजा की बात सुनकर बृहस्पति ने कहा—"राजन् ! आपका कल्याण हो, अब आप मुझसे यज्ञादि कार्य कराने की आशा सर्वथा छोड़ दीजिये। मैं आपको अब किसी प्रकार का पुण्य कार्य नहीं करा सकता। आप अब अपना कार्य किसी दूसरे पुरोहित से कराइये।"

राजा ने विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन् ! आप यह कैसी बात कह रहे हैं ? दूसरे ब्राह्मण से मैं कैसे करा सकता हूँ ? अपनी कुल परम्परा के सुयोग्य पुरोहित के रहते हुए दूसरे पुरोहित से पुण्य कार्य कराना महान् पाप है। मैं भला आपको कैसे परित्याग कर सकता हूँ ?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"राजन्! तुम मुझे परित्याग कहाँ कर रहे हो। मैं ही तुम्हारा स्वेच्छा से त्याग करता हूँ।"

राजा ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"प्रभो! यजमान के किसी घोर पाप को देखकर पुरोहित उसका परित्याग करते हैं। आप मेरा किस पाप के कारण परित्याग कर रहे हैं? आपने मुझमें ऐसा कौन-सा महापातक देखा है?"

बृहस्पतिजी ने सरलता के साथ कहा—"राजन्! आप परम धर्मात्मा हैं, आप में कोई भी पाप नहीं है, मैं किसी पाप के कारण आपका परित्याग नहीं करता। मैं स्वयं प्रसन्नता से आज्ञा देता हूँ कि आप किसी दूसरे वेदज्ञ ब्राह्मण से अपना यज्ञ करावें। मैं इसमें न बुरा मानूँगा न आप पर अप्रसन्न ही हूँगा।"

राजा बोले—"भगवन्! यह कैसे हो सकता है? कुल परम्परा से तो हमने आपके पैर पूजे हैं। यदि भाग्यवश यजमान धनहीन दरिद्र हो जाय, तो क्या सुयोग्य ऐश्वर्यशील पुरोहित किसी प्रकार उसे छोड़ सकते हैं, या पुरोहित के वंश वाले ही विद्या विहीन हो जायँ, तो बुद्धिमान् यजमान उनका सर्वथा परित्याग कर सकते हैं? जैसे भी हो दोनों को सम्बन्ध निभाना ही पड़ता है। सो, मैं तो ऐश्वर्यहीन भी नहीं, आपकी सब प्रकार की सेवा करने को तैयार हूँ।"

यह सुनकर बृहस्पतिजी ने कुछ झुँझलाहट के साथ कहा—"राजन्! सच्ची बात तो यह है, आप चाहें यें करें, चाहें वें करें, मैं हो गया हूँ देवराज इन्द्र का पुरोहित। आपका कर्म कराना मैं अपना अपमान समझता हूँ। अतः आप मुझसे यज्ञ कराने की तनिक भी आशा न रखें।"

ऐसा स्पष्ट और गर्वपूर्ण उत्तर सुनकर राजा को अपार दुःख हुआ। उनकी आँखों में आँसू आ गये, फिर भी वे अपने को सम्हाल कर बोले—"भगवन्! इन्द्र को कराने वाले भी तो आप

ही हैं। इन्द्र कोई एक तो निश्चित हैं ही नहीं। जिसे आप ब्राह्मण सौ यज्ञ करा दें, वही इन्द्रासन का अधिकारी हो जाता है। मैं आपका परम्परागत यजमान हूँ, सेवक हूँ, आपकी आज्ञा में स्थित हूँ। आप पर मेरा और मुझ पर आपका अधिकार है। मैं पीछे तो नहीं हटता। आप मुझे सौ दो सौ जितने चाहें अश्वमेध राजसूय यज्ञ करावें।"

बृहस्पति अब कुछ उत्तेजित हो गये। वे बोले—"राजन्! बहुत बातें बनाने की आवश्यकता नहीं। मैंने आपसे एक बार कह दिया। आप एक बार कहें, हजार बार कहें, मैं आपका यज्ञ नहीं करा सकता, नहीं करा सकता। आप अपना काम देखें और जिससे चाहें यज्ञ करा लें। मेरी आशा सर्वथा छोड़ दें।"

इसके आगे कोई उत्तर नहीं था। वे दुखित चित्त से बृहस्पतिजी को प्रणाम करके चल दिये। उनके मन में बड़ी ग्लानि हो रही थी, कि मेरे पुरोहित ने मुझ निरपराधी का अकारण क्यों परित्याग कर दिया? इतने में ही उन्हें कहीं से "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव!" की सुमधुर ध्वनि सुनाई दी। उन्होंने आँख उठाकर सामने देखा, तो वीणा बजाते, हरिगुण गाते, श्रीनारदजी दिखाई पड़े। देवर्षि नारद को सम्मुख देखकर राजा ने श्रद्धा भक्ति के साथ देवर्षि के चरणों में प्रणाम किया। नारदजी ने यथोचित आशीर्वाद देने के अनन्तर पूछा—"राजन्! आप इतने उदास क्यों हो रहे हैं? अपने दुःख का कारण आप मुझे बतावें।"

राजा ने खिन्न मन से कहा—"भगवन्! क्या बताऊँ? मेरे कोई पूर्वजन्म के पाप उदय हो आये हैं, कि मेरे आचार्य ने बिना अपराध मेरा परित्याग कर दिया है।" इतना कहकर राजा ने आदि से अन्त तक सभी वृत्तान्त बताकर कहा—"अब आप ही

बतावें, कि जब मेरे कुल पुरोहित ने ही मेरा परित्याग कर दिया, तो मैं अब किसके द्वारा अपना यज्ञ कराऊँ ?"

सब प्राणियों के सदा कल्याण में ही लगे रहने वाले सर्वज्ञ देवर्षि नारदजी राजा से बोले—"राजन् ! आप घबराते क्यों हैं। आपका यज्ञ पूर्ण कराऊँगा और आपके कुलगुरु के द्वारा ही।"

कुम्हिलाते हुए राजा के ऊपर मानो नारदजी ने अमृत की वर्षा कर दी हो। अत्यन्त हर्ष के साथ राजा ने पूछा—"भगवन्! मेरे गुरुकुल बृहस्पति तो देवराज के ऐश्वर्य को देखकर ऐश्वर्य-मत्त हो गये हैं, उनके द्वारा आप कैसे मेरा यज्ञ सम्पन्न करा सकेंगे ?"

नारदजी को इसी में आनन्द आता है, कि दो आदमी आपस में लड़ें-भिड़ें। अतः वे बोले—"देखो, राजन्! न्यायतः बृहस्पति आपके पुरोहित हैं नहीं। आपके पिता के पुरोहित मुनिवर अङ्गिरा के दो पुत्र हैं, बड़े बृहस्पति, छोटे सम्वर्त। जब यजमानों का बटवारा होवे तो न्यायतः आप सम्वर्त के भाग में आते हैं। आप उन्हीं से अपना यज्ञ करावें।"

राजा ने दीनता के साथ कहा—"बटवारे की बात क्या है ? मेरे लिये तो दोनों ही गुरुपुत्र समान ही पूज्य और वन्दनीय हैं। दोनों ही मेरे पुरोहित हैं। किन्तु मैंने सुना है, सम्वर्त तो दिगम्बर वेष बनाकर कहीं चले गये। उनकी कहाँ मैं खोज करूँगा, उन्हें मैं कहाँ पा सकूँगा ? यदि वे कहीं मुझे मिल जायँ, तो मेरे मन के समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायँ।"

राजा की बात सुनकर नारदजी बोले—"राजन्! ब्रह्मज्ञानी महामुनि संवर्त का पता मैं आपको बताता हूँ। वे भगवान् विश्वनाथ की पुरी काशी में पागलों के समान दिगम्बर होकर रहते हैं।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैं उन अपने आपको छिपाये हुए ज्ञानी महामुनि को भला कैसे पहिचान सकता हूँ ?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! मैं आपको उपाय बताता हूँ, आप एक शव ले जाकर वाराणसी पुरी के द्वार पर रख दें। जो नग्न उन्मत्त पुरुष आकर उस शव को देखकर लौट जाय, उन्हें ही आप अपने पुरोहित अङ्गिरा का पुत्र समझ लें।

वे आपको बहुत प्रकार से भगाना चाहेंगे, अपने को हर प्रकार से अयोग्य बतावेंगे, किन्तु आप उनके भुलावे में न आ जावें। वे जो भी कहें उसी को करें। मेरा पता पूछें तो बता देना नारदजी तो अग्नि में प्रवेश कर गये।" इतना कहकर नारदजी यह गये और वह गये, क्षण भर में राजा की दृष्टि से ओझल हो गये।

महाराज मरुत्त को बड़ी प्रसन्नता हुई। देवर्षि नारद के आदेशानुसार काशी के मुख्य द्वार पर एक शव रखकर वे बैठ गये। संयोग से उसी समय उन्मत्त वेष में दिगम्बर संवर्त उधर आ निकले। शव को देखकर वे लौट पड़े। महाराज मरुत्त ने समझ लिया, ये ही मेरे पुरोहित ब्रह्मज्ञानी सम्वर्त हैं। सब कुछ छोड़कर वे उनके पीछे लग गये। संवर्त मुनि ने देखा कि राजा मेरा अनुवर्तन कर रहा है, तो वे अपना उन्मत्तपना प्रकट करने लगे। राजा के ऊपर धूलि फेंकने लगे, पतली कीच उलीचने लगे, राजा के शरीर पर थूकने लगे और अंट-संट बकने लगे। इतने पर भी राजा ने उनका पीछा नहीं छोड़ा।

तब मुनि गङ्गा किनारे एक एकान्त स्थान में बैठ गये। राजा भी प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए उनके सम्मुख खड़े रहे। तब महामुनि सम्वर्त ने पूछा—"राजन्! आपको मेरा पता किसने बतलाया?"

हाथ जोड़े हुए दीनता से राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मुझे महामुनि नारद ने आपका सब वृत्तान्त बताया है।"

तब मुनि प्रसन्न हुए और बोले—"तुम मुझसे क्या चाहते हो?" राजा ने आदि से अन्त तक सभी वृत्तान्त विस्तार से बताकर प्रार्थना की—"प्रभो! आप मुझसे यज्ञ करावें मैं अपने कुल गुरु के द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न कराना चाहता हूँ।"

सम्वर्त ने अत्यन्त आश्चर्य की मुद्रा बनाकर कहा—"अरे,

राजा एक तो मैं स्वयं पागल हूँ, मेरे साथ तुम भी पागल हो गये हो, क्या ? मैं तो उन्मत्त हूँ, मेरे मन में जब जो आता है करता हूँ, मैं यज्ञयाग कराना क्या जानूँ ? तुमसे यह बेसिर पैर की बात कह किसने दी ? तुम्हें विश्वास कैसे हो गया, कि मुझमें यज्ञ कराने की योग्यता है ?"

हाथ जोड़े हुए दीनता के साथ राजा ने कहा—"प्रभो ! आप सब कुछ कर सकते हैं । यज्ञ की तो बात ही क्या नई सृष्टि की रचना कर सकते हैं । मैं आपके भुलावे में नहीं आने वाला हूँ। मुझे नारदजी ने सब बता दिया है । जैसे भी हो आपको मेरा यज्ञ कराना ही पड़ेगा ।"

बस, अब क्या, पिघल गये मुनि और प्रसन्न होकर बोले—"राजन् ! मैं आपका यज्ञ करा सकता हूँ और ऐसा यज्ञ करा सकता हूँ, कि इस पृथ्वी के राजाओं की तो बात ही क्या, इन्द्र भी ऐसा यज्ञ नहीं कर सकता । किन्तु एक प्रतिज्ञा करनी होगी। जब मैं तुम्हें यज्ञ कराने लगूँगा, तो इन्द्र और बृहस्पति ईर्ष्यावश भाँति-भाँति के उपायों से हम तुम में भेद-भाव उत्पन्न कराने का प्रयत्न करेंगे । उनके प्रलोभन में पड़कर तुम यदि मेरा परित्याग न करो, तो मैं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा ।"

राजा ने अत्यन्त विनीत होकर दृढ़ता के साथ कहा—"भगवन् ! मैं इस विश्वनाथ की पुरी में गंगाजी को साक्षी करके अश्वत्थ के नीचे कह रहा हूँ, कि चाहे साक्षात् पितामह ब्रह्मा ही आकर मुझसे क्यों न कहें, मैं आपका किसी प्रकार परित्याग न करूँगा ।"

यह सुनकर सम्वर्त मुनि बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'राजन् ! अपनी की हुई प्रतिज्ञा स्मरण रखना । मेरे बड़े भाई के बहकाने से तुमने मुझे छोड़ दिया, तो ज्येष्ठ होने के कारण उनसे तो मैं कुछ कहूँगा नहीं, किन्तु तुम्हारा सर्वस्व नाश कर

दूँगा और यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रहकर मेरे वश में रहे, तो तुम्हारे कोप को अक्षय बना दूँगा। इन्द्र भी तुम्हारे सामने आकर लज्जित होगा। राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाकर तपस्या के द्वारा शिवजी को प्रसन्न करो। वे प्रसन्न होकर गुह्यक चारण और गन्धर्वों से रक्षित सुवर्ण राशि आपको देंगे। उसी के द्वारा मैं आपका यज्ञ कराऊँगा।"

महामुनि सम्वर्त की आज्ञा पाकर राजा ने अपनी तपस्या से शिवजी को प्रसन्न करके अक्षय सुवर्ण राशि प्राप्त की। महामुनि सम्वर्त ने उसी से यज्ञ के सभी समान बनाये। उन्होंने आज्ञा की–हमारे यज्ञ में पात्र, स्तम्भ, मकान, वेदी सभी वस्तुएँ सुवर्ण की ही हों। अन्य किसी धातु का किसी काम में उपयोग न हो।

इन्द्र ने जब संवर्त के द्वारा कराये जाने वाले महाराज मरुत्त के यज्ञ का समाचार सुना, तब तो उसके पेट में पानी हो गया। अपने गुरु बृहस्पति की सम्मति से, अग्नि भेजकर, गन्धर्व भेजकर राजा और संवर्त पुरोहित में भाँति-भाँति से फूट पैदा करने का प्रयत्न किया। बार-बार कहलाया—अब तुम्हारे यज्ञ को बृहस्पति ही करावेंगे, किन्तु राजा अपने वचनों से विचलित नहीं हुए। वे इन्द्र और बृहस्पति के संदेशों को सुनकर टस-से-मस भी न हुए। अन्त में इन्द्र वज्र लेकर स्वयं राजा के यज्ञ में विघ्न करने आये। इस पर राजा विचलित होने लगे। तब संवर्त मुनि ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन! आप घबड़ायें नहीं। मैं अपने मन्त्रबल से इन्द्र को स्तम्भित कर दूँगा।" महामुनि के ऐसे वचन सुनकर राजा ने कहा—"भगवन्! यदि क्रुद्ध होकर इन्द्र हमारे यज्ञ में न आये, तब तो किया कराया सब व्यर्थ ही हो जायगा।"

दृढ़ता के साथ संवर्त बोले—"राजन्! तुम कैसी भूली-भूली

बात कर रहे हो ? तुम्हें मेरी शक्ति पर विश्वास नहीं ? इन्द्र की क्या शक्ति मेरे बुलाने पर न आये। मैं अपने मन्त्रबल से बलात् देवराज इन्द्र को बुला लूँगा।" शक्ति सम्पन्न संवर्त के ऐसे साहस के सामने इन्द्र को सिर झुकाना पड़ा। वे प्रसन्न होकर राजा के यज्ञ में आये और आनन्द के सहित सोमरस का पान किया। सन्तुष्ट होकर राजा से बोले—"राजन्! मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ ?"

राजा ने कहा—"हे स्वर्गाधिप देवेश! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो आप स्वयं मेरे यज्ञ को विधिपूर्वक समस्त दिव्य-ऐश्वर्य के सहित सम्पन्न करावें।"

इन्द्र ने कहा—"ऐसा ही होगा!" इतना कहकर उन्होंने विश्वकर्मा के द्वारा वहाँ सुवर्ण के हजारों मन्दिर भवन बनवा दिये। राजा मरुत्त से जिसने जो माँगा वही दिया। ब्राह्मणों को इतना सुवर्ण दिया, कि वे उसे उठा भी नहीं सके। वहीं छोड़कर चले आये। यज्ञ का समस्त सामग्रियाँ यज्ञ के पूर्ण होने पर महाराज मरुत्त वहीं छोड़कर चले आये। वे अब तक गुह्यक राक्षस और गन्धर्वों द्वारा रक्षित ज्यों-की-त्यों पड़ी हैं। श्रीकृष्ण की आज्ञा से आप उनमें से जितनी चाहें, उठवा लावें और अपने यज्ञों को पूर्ण करें। सर्वप्रथम आप शिवजी को पूजन से प्रसन्न कर लें, क्योंकि उनकी प्रसन्नता के बिना आप वहाँ से एक कण भी उठाकर नहीं ला सकते।"

भगवान् की आज्ञा और व्यासजी की भी सम्मति समझकर धर्मराज ने अपने भाइयों को भेजा। वे शिवजी को पूजन द्वारा प्रसन्न करके हजारों छकड़ों में, लाखों ऊँट, घोड़ों, हाथी और खच्चरों पर वहाँ से सुवर्ण लदवा लाये।

जब सब विपुल धन राशि को लेकर पांडव हस्तिनापुर आये सब सभी को परम आश्चर्य हुआ। गङ्गा के किनारे कई योजन

पृथ्वी सम और शुद्ध करके यज्ञ का कार्य होने लगा। ब्राह्मणों ने सम्मति दी कि—"महाराज! एक ही यज्ञ में सब विधि तिगुनी कर दें, तिगुनी दक्षिणा दें, आपको तीनों यज्ञों का फल साथ ही हो जायगा। धर्मराज ने ऐसा ही किया. यज्ञिय घोड़ा छोड़ा गया। वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर भ्रमण करके पुनः लौट आया सब यज्ञ की सब विधि यथावत् की गई। जिस यज्ञ को कराने वाले स्वयं यज्ञपति भगवान् ही हों, उसकी सफलता के सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ है।

धर्मराज ने उस यज्ञ में अटूट धन लुटाया, जिसने जो माँगा वही दिया। चाहे जो आओ, चाहे जिस समय आओ, इच्छा-नुसार जो पदार्थ चाहो खाओ, जो प्रिय पेय पदार्थ पीना चाहो पीओ, जितनी चाहो दक्षिणा ले जाओ, जो चाहो वही तत्काल मिलेगा। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर का वह यज्ञ मरुत्त के यज्ञ से भी बढ़कर हुआ। मरुत्त के यज्ञ में तो इन्द्र कराने वाले थे, इस यज्ञ में तो इनके पिता के भी पितामह भगवान् श्यामसुन्दर थे। अतः वह यज्ञ अनुपमेय हुआ।

इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञों को सांगो-पांग पूर्ण कराकर, सबकी प्रसन्नता के लिये कुछ काल तक भग-वान् और भी हस्तिनापुर में रहे। फिर सबकी सम्मति लेकर, सभी से प्रेमपूर्वक मिल-जुल कर, यादवों और अपने प्रिय सखा अर्जुन के सहित भगवान् अपनी यादवों द्वारा प्रतिपालित द्वारकापुरी को चले गये।"

—०—

छप्पय

अच्युत आज्ञा पाइ हिमालय पांडव धाये।
शिवकूँ करि सन्तुष्ट मरुत मख को धन लाये॥
करि कृष्णार्पण सभी यज्ञ के कारज कीन्हें।
अन्न, वस्त्र, धन, धाम, ग्राम विप्रनि कूँ दीन्हें॥
इन्द्र सरिस कुन्ती तनय, नव जलधर सम श्याम हैं।
स्वर्ण वारि बरसै विपुल, पूरे सबके काम हैं॥

श्री विदुरजी

[४३]

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १३ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

मुनि माण्डव्य महान् मनस्वी मौनी दुष्कर ।
करें तपस्या तीव्र द्वार आश्रम के तरुतर ॥
करिकें चोरी चोर और आश्रम की आये ।
देखि दूरितें दूत द्रव्य धरि तहाँ लुकाये ॥
पूछें मुनितें दूत सब, मौनी उत्तर देहिँ कस ।
यही चोर सरदार है, सब मिलि निश्चय कियो अस ॥

कितना ही तेजस्वी तपस्वी पुरुष क्यों न हो, प्रारब्ध का भोग तो सभी को भोगना पड़ता है। प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग के क्षय होता नहीं। जीवन्मुक्त को भी शरीर रहते प्रारब्ध भोग भोगने ही पड़ते हैं। हाँ, वह उनके सुख-दुखों में लिप्त नहीं होता और न उसके क्रियमाण-कर्म संचित कर्मों में मिलकर भविष्य के

---

* महामुनि माण्डव्य के शाप से जिस समय यमराज सौ वर्ष तक पृथ्वी पर विदुर के रूप में रहे तब तक यमराज का पापियों को दण्ड आदि देने का नियमानुसार समस्त कार्य—प्रतिनिधि रूप से—अर्यमा नामक पितर करते रहे।

प्रारब्ध को रचना ही करते हैं। इतना सब होने पर भी वर्तमान शरीर के प्रारब्ध कर्म तो उसके शरीर के साथ अन्त तक लगे रहते हैं। मनुष्यों के ही लिये नहीं ऋषि, मुनि, यक्ष, किन्नर, देवता और प्रजापति लोकपाल तक सभी प्रारब्ध के ही वशीभूत होकर काम करते हैं और उन्हें भी नाना ऊँच-नीच योनियों में जाना पड़ता है।

सूतजी ने जब यह कहा, कि विदुरजी साक्षात् धर्मराज थे, मुनि के शाप वश उन्हें सौ वर्षों तक शूद्र योनि में रहना पड़ा तब तक शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यमराज ने ऐसा क्या अपराध किया कि महामुनि मांडव्य ने उन्हें पृथ्वी पर शूद्र में उत्पन्न होने का शाप दिया। इस विषय का हमारे मन में कौतूहल हो रहा है। यदि हमारे बताने योग्य विषय हो तो अवश्य बताइये।"

शौनकजी के वचन सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! आपसे पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, कि कोई भी किसी स्वेच्छा से शाप नहीं दे सकता और न कोई किसी पर अपने आप अनुग्रह ही कर सकता है। सभी दैव के—अदृष्ट के—अधीन हैं सभी का सभी के साथ सब कार्य और सब काल का संयोग बना रहता है। उस संयोग के आते ही अपने आप प्राणियों की वैसी ही बुद्धि बन जाती है और उसी के अनुसार कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। धर्मराज के शाप का वृत्तान्त भी बड़ा मनोरञ्जक है। उसे अत्यन्त संक्षेप में आपके सामने मैं सुनाता हूँ। आप सब स्वस्थ-चित्त होकर श्रवण करें।

प्राचीन काल में एक माण्डव्य नाम के बड़े ही जितेन्द्रिय, धर्म परायण, तपस्या में निरत तेजस्वी मुनि थे। वे सदा धर्म कार्य में ही लगे रहते। उनके आश्रम के द्वार पर एक सुन्दर छायादार वृक्ष था। उसी के नीचे वे मौन व्रत धारण करके ऊर्ध्व

बाहु होकर तपस्या करते रहते थे। वे समाधि में इतने निरत रहते कि उन्हें बाह्य जगत् का भान भी न रहता।

एक दिन बहुत से चोरों ने मिलकर राजा के यहाँ से चोरी की और बहुत-सा द्रव्य लेकर वे भाग गये। उसी समय जाग पड़ गई। राजा के सिपाही चोरों का पीछा करते हुए उनके पीछे पीछे दौड़े। चोरों ने जब यह देखा, कि ये हमारे समीप ही आ गये, तो व सब माल को लेकर माण्डव्य मुनि के आश्रम में छिप गये। माल-मताल भी वहाँ पास ही छिपा दिया। सिपाहियों ने इधर-उधर देखा, कि अभी तो चोर पास ही थे, कहाँ चले गये? उन्होंने जाकर ऋषि से पूछा—"ब्रह्मन्! इधर बहुत-से चोर चोरी का सामान लेकर भाग आये थे। आपने उन्हें इधर जाते हुए तो नहीं देखा है?"

मुनि तो मौन थे, ध्यान में मग्न थे। उन्हें न चोरों का पता था और न उन्होंने सिपाहियों की बात ही सुनी। इस पर सिपाहियों को संदेह हुआ। आश्रम के भीतर घुसकर उन्होंने अन्वेषण किया। एक दिवाल के पीछे उन्होंने देखा कि चोर जी मुँह मटका-मटका कर इधर ही देख रहे हैं। सिपाहियों ने जाकर झट से हथकड़ी बेड़ी डाल दी और कहा—"बच्चूजी! अब कहाँ जाओगे, माल-मताल बता दो।"

इतना सुनते ही वे मूरख भी मौनी बन गये। तब तो सिपाहियों ने सोचा, यहाँ तो मौनियों का अड्डा है। सिपाहियों ने पूछा—"क्यों जी, तुम चोर हो, कि साधु?" चोर बाबू फिर भी मौन! सिपाहियों को संदेह हुआ कि कहीं चोर के धोखे में मौनी महात्मा न पकड़े जायँ। उन्होंने चारों ओर धन की खोज की। खोजने पर सब धन भी मिल गया। तब तो उनका सन्देह जाता रहा। उन्होंने समझ लिया ये सब दम्भ से मौनी बने हैं। मौन ऐसा अस्त्र है; कि इसकी आड़ में सब कुकर्म छिप जाते हैं।

सिपाहियों ने निश्चय कर लिया, ये सब महात्मा नहीं, महाठग हैं। इन सबका सरदार वह है, जो बाहर हाथ ऊपर किये खड़ा है। ये सब एक ही पलड़े के चटटे बटटे हैं। दिन में मौनी रहते हैं। रात्रि में डाका डालते हैं। यही सब सोच समझकर चोरों के साथ मुनि को भी बाँध ले गये। गेहुँओं के साथ घुन भी पिस गया, फूलों के साथ काँटा भी शिवजी पर चढ़ गया, पान के साथ पत्ता भी राजा के हाथों में पहुँच गया। दुष्टों के संसर्ग के कारण साधु भी दुखी हो गये।

मुनियो! आजकल तो कलियुग आ गया है। सभी चोर हो गये हैं, जो न्याय करते हैं, वे भी किसी न किसी प्रकार से चोरी करते हैं, अतः इस युग में चोरी करना कोई बड़ा अप[राध] नहीं माना जाता। यही नहीं, चोरी करना एक कला मानी [जाती] है। चोरी करो, मोरी रखकर। ऐसी चोरी करो कि कोई पक[ड़] न पावे। यदि पकड़े भी जाओ तो न्याय-विधान के ऐसे दाँव पेंच हैं कि अनेक प्रकार की झूठी बातें बनाकर चोर और [उस] के पैसा प्राप्त प्रतिनिधि यह सिद्ध कर देंगे कि यह चोरी नियमा[नु]सार चोरी है ही नहीं। इन ऐसे टेढ़े मेढ़े न्याय—विधानों [के] कारण चोर छूट जाते हैं, शाह दंड पाते हैं, किन्तु हम जिस [युग] की बातें कह रहे हैं, उस युग में चोरी करना सबसे बड़ा अ[पराध] माना जाता था। उस समय चोरी की सजा सूली ही थी। चो[र] को चौराहे पर सबके सामने सूली पर चढ़ाकर सिपाही [चले] जाते थे। वह धीरे-धीरे मर जाता था, तब उसे चाण्डाल उठा [ले] जाते थे।

इन सबको भी सिपाहियों ने राजा के सम्मुख उप[स्थित] किया। चोर तुरन्त ही माल के साथ पकड़े गये थे। अतः रा[जा] ने विशेष विचार नहीं किया, सभी को सूली पर चढ़ाने की [आज्ञा] दे दी। चोरों के साथ मांडव्य मुनि को भी शूली पर चढ़ा [दिया]।

गया। और सब चोर तो शूली पर चढ़ने से मर गये, किन्तु तपस्या के प्रभाव से मुनि ज्यों-के-त्यों शूली पर चढ़े-ही-चढ़े वहाँ बैठकर ध्यान करने लगे।

एक दिन हुआ, दो दिन हुए। ऋषि को ज्यों-के-त्यों शूली पर चढ़े देखकर, सेवकों ने राजा से जाकर निवेदन किया—"प्रभो!

एक चोर शूली पर अभी तक ज्यों-का-त्यों जीवित बैठा है। उसके मल द्वार से सिर तक जाती ही नहीं उसे कोई कष्ट भी प्रतीत होता।"

यह सुनकर राजा को सन्देह हुआ। अरे! हो न हो वे कोई तपस्वी महात्मा हैं। राजा बड़ी शीघ्रता से अपने मन्त्री और पुरोहित को साथ लेकर शूली के समीप गये। पुरोहित ने तपस्वी को पहिचान लिया। महाराज! यह तो बड़ा अनर्थ हुआ। ये तो परम तेजस्वी तपोराशि महामुनि मांडव्य हैं। राजा ने शूली से उतारा। उनकी विधिवत् पूजा की और हाथ .. बड़ी दीनता के साथ बोले—"ब्रह्मन्! मुझ अज्ञानी का क्षमा हो। महर्षे! हमसे यह घोर अपराध अज्ञान-वश हो गया प्रभो! आप मुझ पर प्रसन्न हों, क्रोध करके मेरे राज्य को भस्म न कर डालें।"

राजा के ऐसे विनीत वचन सुनकर महर्षि बोले—"राजन्! आपका कल्याण हो। आप किसी बात की चिन्ता न करें। आपके ऊपर मुझे किञ्चित भी क्रोध नहीं है। सभी अपने कर्मों के अधीन होकर दुःख-सुख पाते हैं। मैंने पूर्वजन्म में कोई ऐसा पाप किया होगा, जिसका फल मुझे भोगना पड़ा। किन्तु मैं सोचता हूँ, मैं तो बाल्य-काल से तपस्या में निरत हूँ, सदा सदाचार से रहता हूँ, कभी किसी की हिंसा नहीं करता, फिर यह दारुण दुःख मुझे क्यों सहना पड़ा? अच्छी बात है, मैं अब धर्मराज को समझूँगा।"

राजा-के-प्राण में प्राण आये। वे ऋषियों से बड़े डरते थे। इन तपस्वियों का और ऊँटों का कुछ ठिकाना नहीं, किस करवट बैठें जब इन्हें किसी बात पर क्रोध आ जाता है, तो फिर ये किसी की भी नहीं सुनते। अपना वाग्वज्र छोड़कर ही मानते हैं। राजा ने सोचा चलो, मेरे ऊपर से मेह टला, ऋषि का क्रोध यमराज़ के

ऊपर उतरेगा। दोनों समर्थ हैं, परस्पर में निपट लेंगे। यही सब सोचकर राजा ने पाद्य, अर्घ्यादि देकर ऋषि की विधिवत् पूजा की। वह शूली राजा ने अनेक उपायों से ऋषि के शरीर से निकलवानी चाही किन्तु निकली नहीं। तब ऋषि की आज्ञा से शूली का जितना भाग शरीर के बाहर था, उसे काट दिया गया। शूली की अणी (नोक) ऋषि के शरीर में ही लगी रही, इसी से वे 'अणी-माण्डव्य, के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ऋषि को क्रोध तो आ ही रहा था। वे अपनी तपस्या और योग के प्रभाव से यमलोक में जा पहुँचे। ऋषि को आया हुआ देखकर यमराज ने बड़ी शीघ्र से उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया और पाद्य, अर्घ्य आदि के द्वारा उनकी पूजा की। उनकी की हुई पूजा की ओर कुछ भी ध्यान न देकर ऋषि धर्मराज की भर्त्सना करते हुए बोले—"क्यों जी, यमराज महोदय! आप बड़े न्याया-शील प्रसिद्ध हैं। आप सभी को पाप पुण्यों के अनुसार दुःख सुख देते हैं। कृपा करके यह बताइये, कि यह शूली का दारुण दण्ड आपने किस अपराध के कारण मुझे दिया और प्रयत्न करने पर भी यह शूली की अणि क्यों नहीं मेरे शरीर से निकलती? ऐसा मैंने कौन पाप कर्म किया था?"

धर्मराज तो हक्के-बक्के रह गये। ऋषि की क्रोध मुद्रा को देखकर उनका मुख सूख गया। सान्त्वना देते हुए वे कहने लगे—"ब्रह्मन्! आप विराज जाइये। आप जब स्वस्थ हो जायेंगे, तो मैं आपके सभी प्रश्नों का यथावत् उत्तर दूँगा।"

ऋषि कब शान्त होने वाले थे, उन्होंने कहा—"नहीं, आप पहिले बताइये, तभी मैं बैठूँगा।"

धर्मराज विवश हुए, और नम्रतापूर्वक बोले—"ब्रह्मन्! बाल्यकाल में आपने कई पतङ्गों के शरीर में कुशा की नोंक चुभो-कर उन्हें छोड़ दिया था, उसी अपराध से आपको शूली का

दारुण दुःख सहन करना पड़ा। आपने उन पतङ्गों के शरीर से कुश की नोक निकाली नहीं, इसीलिये यह अणि आपके शरीर में मृत्यु पर्यन्त इसी प्रकार बनी रहेगी।"

ऋषि अपने आपे में नहीं थे, बोले—"यह कब की बात है?"

यमराज ने कहा—"तब तो आप बहुत छोटे थे।"

ऋषि बोले—"बाल्यकाल में धर्माधर्म का ज्ञान ही नहीं रहता, यदि कुछ हमने किया भी हो, तो वह बाल सुलभ चञ्चलता-वश ही किया होगा। उस इतने छोटे अनजान अपराध के बदले इतना घोर दण्ड, यह आपने शूद्र वृत्ति का कार्य किया। अतः मैं आपको शाप देता हूँ, कि आपको सौ वर्ष तक पृथ्वी पर शूद्र योनि में रहना पड़ेगा।"

धर्मराज ने कुपित मुनि को मधुर वचन और विनय के द्वारा प्रसन्न किया और बोले—"भगवन्! जो अपराध आप मुझे लगा रहे थे वही आप कर रहे हैं। मुझे मेरे न्याय के लिये ऐसा घोर दण्ड?"

मुनियों का क्रोध पानी की लकीर के समान होता है जहाँ से निकला कि शान्त हुआ। मुनि प्रसन्न हो गये और कहने लगे—"धर्मराज! मैं कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला, अतः आपको पृथ्वी पर शूद्र योनि में जन्म तो लेना ही पड़ेगा। किन्तु आप नाम के ही शूद्र होंगे। अपनी माता के कारण आप शूद्र माने जायँगे, नहीं तो महामुनि व्यासजी के वीर्य से आपका जन्म होगा। राजकुल में आप श्रेष्ठ और माननीय माने जायँगे। सभी आपका देवता की तरह आदर करेंगे। आप वहाँ भी अपने नीति धर्म के स्वभाव को भूलेंगे नहीं। आप सर्वश्रेष्ठ नीतिज्ञ समझे जायँगे। आपकी नीति का विद्वानों में बड़ा आदर होगा। और सबसे बड़ी बात यह होगी, कि आप नन्दनन्दन भगवान् श्याम-सुन्दर के अत्यन्त ही प्रिय होंगे। मनुष्यों के एक सौ वर्ष से कुछ

अधिक (अर्थात् देवताओं के चार पाँच महीने) ही, आप शूद्र योनिमें रहकर पुनः अपने पद पर प्रतिष्ठित हो जायँगे।" इतना कहकर ऋषि इच्छानुसार लोकों में चले गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब न्याय करने को धर्मराज नहीं रहे, तो पापियों के पाप ताप का फल, पुण्यात्माओं के पुण्य का फल कौन देते थे ? तब तक (देवताओं के ४-५ महीने) यमराज का काम बन्द रहा ?"

सूतजी बोले—"महर्षे ! क्या कभी संसार का कार्य बन्द हो सकता है ? सैकड़ों यम, इन्द्र, कुबेर, वरुण बदल गये। सैकड़ों बार सृष्टि प्रलय हो गई। जब तक यमराज शूद्रयोनि में—विदुर रूप में—रहे तब तक पितरों में से अर्यमा नाम के नित्य पितर यमराज के स्थानापन्न होकर न्याय व्यवस्था करते रहे। जब विदुर के शरीर को त्यागकर यमराज अपने लोक में गये, तो फिर से अपने कार्य को पूर्ववत् करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आपने यह तो बड़ी अद्भुत कथा सुनाई। अब कृपा करके विदुरजी ने जिस प्रकार अपना यह पाँच भौतिक शरीर त्याग किया अथवा जैसी आपकी रुचि हो, जिस प्रकार आप उचित समझें उसी प्रकार सुनावें।"

छप्पय

बाँधे चोरनि सहित निकट नरपति के लाये।
बिनु विचार मुनि सहित चोर शूली लटकाये॥
तप ते मुनि नहिं मरे मर्म भूपति जब जान्यो।
छमा याचना करी, दोष मुनि आपन मान्यो॥
क्रोधित लखि यम ने कही, छेदे कृमि छोड़े अवश।
शाप दयो "यम शूद्र हो", भये विदुर मुनि कोप वश॥

विदुरजी का हस्तिनापुर में आगमन

[४४]

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम्।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविवित्सितः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

आये चाचा विदुर, युधिष्ठिर सुनि हर्षाये।
करि स्वागत सत्कार, प्रेम ते पुर में लाये॥
पुनि पूछी कुशलात, कृष्ण की कही कहानी।
तिरोभाव कूँ त्यागि, विदुर ने सभी बखानी॥
स्वयं धर्म सत् वरष तक, शूद्र भये मुनि शाप सुनि।
शूली के कारण कुपित, शाप दियो माण्डव्य मुनि॥

जो बन्धु-बान्धव दुःख में हमारे साथ रहे हैं, जिन्होंने विपत्ति से हमें बचाया हो, यदि वे सुख में भी हमारे साथ रहें तो पूर्वकृत उपकारों के कारण हम उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं। दुःख एक ऐसी खराद है, कि वह स्नेह को

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विदुरजी महाभारत युद्ध से पूर्व ही तीर्थ यात्रा को गये हुए थे। उसी यात्रा प्रसंग में हरिद्वार जाकर उन्होंने मैत्रेय मुनि से ज्ञान प्राप्त किया और उससे उन्हें समस्त जानने योग्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त हो गया। इसके अनन्तर वे हस्तिनापुर में लौट आये।"

उज्वल और तीक्ष्ण बनाकर चमका देता है। बाल्यकाल में कौरवों ने पांडवों को भाँति-भाँति के क्लेश पहुँचाये। उन सबसे पांडवों की विदुरजी रक्षा करते रहे और समय-समय पर समयोचित सम्मति देकर उन्हें सचेष्ट करते रहे। धर्मराज अब राजा हो गये। इस समय विदुरजी का क्या हुआ? यही सब सोचकर शौनकजी पूछने लगे—"सूतजी! आपने अत्यन्त संक्षेप में महाभारत की कथा सुनाई और अश्वत्थामा के द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र से गर्भस्थ परीक्षित् की कैसे भगवान् ने रक्षा की, यह भी बात आपने सुना दी। महाराज परीक्षित् का जन्म भगवान का द्वारका गमन, पुनः अश्वमेध के निमित्त हस्तिनापुर में आगमन और अश्वमेध यज्ञ का साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होना, इन सब विषयों को आपने अत्यन्त संक्षेप में बड़ी बुद्धिमानी के साथ सुनाया। अब हम यह सुनना चाहते हैं, कि विदुरजी का क्या हुआ? धृतराष्ट्र हस्तिनापुर में कब तक रहे? पांडवों ने महाराज परीक्षित् को राज्य कब और क्यों सौंपा? अन्त में पांडवों ने कैसे शरीर त्याग किया। यह सब सुनकर फिर महाराज परीक्षित् के राज्य शासन की कथा सुनावें, कि उन्होंने कैसे राज्य किया और क्यों गङ्गातट पर जाकर इस परोपकारमय शरीर का उन्होंने स्वतः त्याग किया?"

शौनकजी के प्रश्न को सुनकर सूतजी बड़े सन्तुष्ट हुए और बोले—"महाभाग! आपने अत्यन्त ही पुण्यमय प्रश्न किये। इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के प्रसङ्ग में मुझे परात्पर प्रभु भगवान् वासुदेव की कमनीय कथायें कहने का सुयोग प्राप्त होगा आपने प्रश्न क्या किये मुझे भगवान् के चारु चरित स्मरण करा दिये। अच्छा तो आप पहिले संक्षेप में विदुरजी का वृत्तान्त सुनिये

दुष्ट दुर्योधन के दुर्व्यवहार से दुखित होकर बुद्धिमान् विदुर

महाभारत युद्ध के पूर्व ही अपने धनुष को कौरवों के सभा-द्वार पर रखकर स्वतः ही सबसे उदासीन होकर, तीर्थयात्रा के निमित्त चले गये। वे महात्मा थे, उन्हें किसी की मोहमाया नहीं थी। वे पुनः हस्तिनापुर में लौटना भी नहीं चाहते थे, किन्तु अपने बड़े और अन्धे भाई धृतराष्ट्र की मङ्गल कामना उन्हें पुनः हस्तिनापुर में ले आई। यात्रा प्रसंग मे उन्हें व्रज में उद्धवजी मिल गये थे, उनके द्वारा भगवान् का तिरोभाव श्रवण करके और उन्हीं के द्वारा महामुनि मैत्रेय का समाचार जानकर वे हरिद्वार गये और वहाँ मैत्रेयजी से अपनी सभी शङ्काओं का समाधान कराकर हस्तिनापुर आ गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! विदुरजी को उद्धव कैसे मिले, मैत्रेयजी से विदुरजी ने कौन-से प्रश्न पूछे ? यदि इन बातों को आप हमें बताना उचित समझें, तो इनको भी विस्तार से बतावें।"

सूतजी बोले—मुनियो ! मैं इन कथाओं को आगे प्रसङ्गानुसार स्वयं ही कहूँगा। इस समय तो आप पहिले संक्षेप में विदुरजी की कथा और तदनन्तर उन्होंने हस्तिनापुर में रहकर क्या किया, इस प्रसंग को बातें सुनें।"

शौनकजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"बड़ी अच्छी बात है, आप जिस प्रकार उचित समझें वैसे ही सुनावें। यह प्रश्न हमने इसलिये कर दिया, कि इसमें भगवान् की कथाओं का विस्तार से वर्णन होगा। अब आप विदुरजी की ही बातें सुनाइये।"

शौनकजी की सम्मति पाकर सूतजी कहने लगे—"जब विदुरजी उद्धवजी के कहने से हरिद्वार में गये, तो वहाँ उन्होंने एकान्त में शान्त बैठे हुए महामुनि से बहुत-से प्रश्न कर डाले। उन वेदवेत्ता विद्वान् मुनि ने उन प्रश्नों का इतने कौशल से उत्तर

दिया कि विदुरजी थोड़े ही प्रश्नों का उत्तर सुनकर तृप्त हो गये। फिर उन्होंने अपने सब प्रश्नों का उत्तर सुनना ही न चाहा। बीच में ही संतुष्ट होकर और मुनि की चरण-वन्दना करके वे हस्तिनापुर की ओर चल दिये।

जब वे नगर के निकट पहुँचे, तो किसी ने शीघ्रता से आकर महाराज युधिष्ठिर को यह शुभ संवाद सुनाया। इस संवाद को सुनकर धर्मराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे प्रेम में विभोर हो गये। अहा! जिन्होंने हमारी बच्चों की तरह रक्षा की थी, वे ही हमारे प्राणों से भी प्रिय पितृव्य आज आ रहे हैं, इस बात को स्मरण करके हर्ष से उनके रोम-रोम खिल गये।

महाराज युधिष्ठर ने आज्ञा दी—"शीघ्र ही सबकी सवारियाँ तैयार की जायें। बड़े, बूढ़े, बालक, नगर निवासी, सभी मेरे चाचा के स्वागत के लिये चलें। वे हमारे देवता हैं, उनका सभी को हार्दिक स्वागत करना चाहिये।"

धर्मराज की आज्ञा पाते ही, नगर भर में आनन्द की बाढ़-सी आ गई। सभी नर-नारी स्वागत की तैयारियाँ करने लगे। सेवकों ने शीघ्रता से नगर की सभी सड़कें, घर, चौराहे और बड़े-बड़े मुख्य द्वारों को झण्डी पताका और वन्दनवारों से सजाया। सभी बड़े, बूढ़े, बालक, स्त्रियाँ अपने-अपने रथ और वाहनों पर चढ़कर नगर के बाहर विदुरजी के स्वागत के लिये चले। बहुत से पैदल ही दौड़े जा रहे थे, सभी ने दूर से ही तपस्वियों की तरह जटा बढ़ाये, वल्कल वस्त्र पहिने पैदल ही विदुरजी को आते देखा। सभी शीघ्रता के साथ अपनी-अपनी सवारियों से कूद पड़े और वेग से दौड़कर उनसे लिपटकर रोने लगे। उस समय अंधे धृतराष्ट्र भी अपने भाई के स्वागत के लिये रथ पर चढ़कर आये थे। युयुत्सु, सञ्जय, कृपाचार्य तथा और भी पांडवों के सगे सम्बन्धी उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े हो

गए। किसी को विदुरजी के लौटने की आशा नहीं थी, किन्तु सहसा उन्हें आया देखकर सबको बड़ी ही प्रसन्नता हुई, जैसे
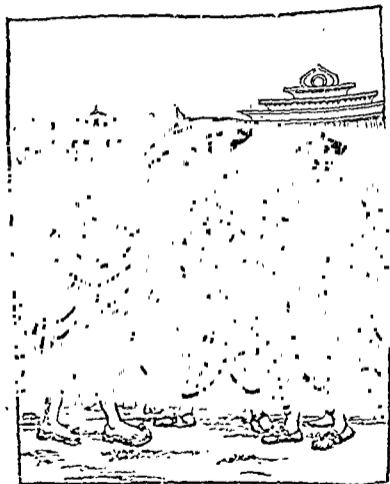
कोई बहुमूल्य खोई हुई वस्तु फिर से मिल जाय अथवा जैसे किसी रोग के निवृत्त होने की सर्वथा आशा न रही हो, वह रोग

सहसा अपने आप ही अच्छा हो जाय। अथवा अन्धे को आँखों से अकस्मात् दीखने लगे या मृतक पुरुष के शरीर में फिर से प्राण आ जायँ। सभी ने लज्जा, प्रेम और नम्रता के साथ विदुर जी का आलिङ्गन आदि किया। सभी की आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। सभी एकटक भाव से तपस्या करते-करते कृश हुए, विदुर जी की ओर निहारने लगे। विदुरजी ने सबका यथोचित् सत्कार किया, परस्पर कुशल प्रश्न के अनन्तर सभी राजभवन की ओर चले।

राजभवन में पहुँचकर धर्मराज ने उन्हें उत्तम आसन पर बिठाया। उनकी यथोचित पूजा की। पांडव कुल की सभी छोटी बड़ी स्त्रियाँ जैसे कुन्ती, गांधारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी, पाँडव और कौरवों की अन्य बहुओं ने आकर तपस्वी विदुरजी के दर्शन किये। विदुरजी ने जिसके साथ जैसा सम्बन्ध था उसी के अनुसार उनसे कुशल प्रश्न पूछे। कुन्तीजी, विदुरजी के कृश और रूखे शरीर पर हाथ फेरती हुई रोने लगीं। वे बोलीं— "हाय, विदुरजी! तुम तो हम लोगों को भूल ही गये। दुःख में सदा हमारे साथ रहे; अब कुछ सुख का समय आया तो आपको न देखकर हम पहिले से भी अधिक दुखी रहते थे। तुम बिलकुल बदल ही गये, पहिचाने भी नहीं जाते हो, सम्पूर्ण शरीर सुखा डाला!"

विदुरजी अपनी गीली आँखों को पोंछते हुए कहने लगे— "भाभी! किसे दोष दें? सब अपने भाग्य का खेल है। मनुष्य प्रारब्ध के सूत्र में बंधा है। प्रारब्ध जहाँ खींचकर ले जाता है, वहाँ प्राणियों को इच्छा न रहने पर भी विवश होकर जाना ही पड़ता है।"

विदुरजी की बात सुनकर प्रेमाश्रु विमोचन करते हुए धर्मराज कहने लगे—"चाचाजी! सच बताइये, आपको कभी

हमारी याद आती थी ? जैसे पक्षी अपने अंडे-बच्चों को पङ्ख के नीचे दबाकर उसकी रक्षा करते हैं वैसे ही आप सदा हमारी रक्षा करते रहे। जैसे माली सदा पौधों की देख-रेख करता है, जैसे कृषक सदा अपनी छोटी अंकुरित खेती के लिये चिन्तित रहता है, जैसे एकलौते बेटे वाली हेजदार माँ अपने बच्चे की रक्षा के लिये व्यग्र रहती है, उसी प्रकार आप हमारी रक्षा के लिये चिंतित और सदा सावधान रहते थे। आपकी ही कृपा से हम इतने बड़े हुए और अब वह भी समय आया कि अपने शत्रुओं को मारकर हम इस सम्पूर्ण वसुन्धरा के एकछत्र सम्राट् बने। दुर्योधन ने भीम को विष दे दिया था, आपने ही उसके बुरे विचार को हमें बताया। कौरव हमें वारणावत में माता के सहित जला डालना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने छिपकर लाख का घर बनवाया था, किन्तु आपने ही उसमें गुप्त गुफा खुदवाकर, केवट और नौका भेजकर हमारी रक्षा की। आप हमारी इतनी चिन्ता न रखते तो हम वहीं जलकर भस्म हो जाते। फिर भी आप हमें छोड़कर चले गये।"

विदुरजी ने कहा—"धर्मराज! कौन किसकी रक्षा कर सकता है ? मुझमें क्या सामर्थ्य थी, जो आप देव-पुत्रों की रक्षा करता। आपकी रक्षा आपके धर्म ने, सत्य ने और सदाचार ने ही सदा की है। जो लोग धर्म की रक्षा करते हैं, धर्म उनकी भी सदा रक्षा करता है। भगवान् के यहाँ देर भले ही हो, अंधेर नहीं है। दुर्योधन ने मुझसे ऐसे कुवाच्य कहे, कि उन्हें सुनकर कोई मनस्वी पुरुष उसके राज्य में नहीं रह सकता था। तुम्हारे पक्ष में मैं इसलिये नहीं हुआ, कि इसमें बड़ी लोक-निन्दा है। फिर मैं इस समय बंधु-बध को अपनी आँखों से देखना भी नहीं चाहता था, इसीलिये पुण्य तीर्थों की यात्रा के लिये चला गया। इससे पुण्य भी हुआ और ये लड़ाई-झगड़े की बातें भी सुनाई न पड़ीं।"

धर्मराज ने पूछा—"आपकी यात्रा में क्या वृत्ति रही ? किस तरह से आप अपना निर्वाह करते थे ? आप किसी वाहन पर चलते थे या पैदल ? अकेले रहते थे या दस-बीस यात्रियों की मण्डली में ? आप इन सब बातों को हम सबको सुनाइये। आपके इस विचित्र वेप को देखकर मुझे बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

विदुरजी बोले—"राजन् ! जब मैं यहाँ से निकला, तो मैंने अपना अवधूतों का-सा वेप बना लिया। सम्पूर्ण वस्त्रों को फेंक दिया एक लँगोटी लगा ली, एक कंथा साथ में ली। सम्पूर्ण शरीर पर धूलि लपेटे रहता था; ताकि मुझे कोई पहिचान न ले। मैं अकेला ही पृथ्वी पर विचरण करता था। यदृच्छया जो भी प्राप्त हो जाता, उसी को खाकर सन्तुष्ट रहता। भूमि पर शयन करता और पैदल ही पृथ्वी के पुण्यतीर्थ, पर्वत, नद-नदी और देवताओं के स्थानों तथा मन्दिरों में दर्शनार्थ पर्यटन करता रहता। इस प्रकार मैंने यात्रा की।"

धर्मराज ने पूछा—"चाचाजी ! किस-किस तीर्थ में आप गये ?"

विदुरजी बोले—"मैं कुरुक्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ, मथुरापुरी, वृन्दावन, शूकरक्षेत्र, बटेश्वर, नैमिपारण्य, प्रयागराज, अयोध्यापुरी, चित्रकूट, काशी, गया, जगन्नाथपुरी, वेङ्कटाचल, काँची, श्रीरङ्गम, चिदम्बरम्, कुम्भकोणम्, श्रीरामेश्वर, पंढरपुर, द्वारका, प्रभासक्षेत्र·········।"

बीच में ही धर्मराज ने पूछा—"आप द्वारकापुरी, प्रभास भी गये थे ? वहाँ तो आपको सब यादव मिले होंगे ? भगवान् के दर्शन भी हुए होंगे ? अर्जुन तो वहीं है, उससे भी भेंट हुई होगी। आप मुझे श्रीकृष्ण के सब समाचार सुनावें ?"

विदुरजी प्रभासक्षेत्र से ही अत्यन्त शीघ्र योगमार्ग से मथुरा-

पुरी, हरिद्वार होकर आये थे। यदुकुल के क्षय की बात उन्होंने उद्धवजी से व्रज में सुनी थी। भगवान वासुदेव देवताओं की प्रार्थना से स्वधाम पधार चुके थे। किन्तु विदुरजी ने यह दुःखद संवाद स्वयं सुनाना उचित नहीं समझा। क्योंकि वे स्वभाव से दयालु थे। उनको सदा से पांडवों को प्रसन्न करने की चेष्टा रहती थी। इसी के लिए वे सदा प्रयत्न करते रहे। अब वे स्वयं इस प्रकार का दुःखद समाचार सुनाकर सभी को दुखी क्यों बनाते। उन्होंने सोचा—"कभी न कभी तो धर्मराज इस असह्य समाचार को सुन ही लेंगे, अर्जुन स्वयं ही आकर कहेंगे, फिर मैं रङ्ग में भङ्ग क्यों करूँ।" यही सब सोच समझकर उन्होंने यात्रा की सब बातें तो सुना दीं, किन्तु यदुकुल के क्षय की बात कही ही नहीं। वे बोले—"मैं तो भैया, किसी सम्बन्धी के यहाँ गया ही नहीं। मेरा प्रयोजन तो तीर्थयात्रा करना ही था।"

धर्मराज बोले—"आपको तीर्थ यात्रा से क्या पुण्य हो सकता है, आप तो स्वयं ही तीर्थ स्वरूप हैं। हाँ तीर्थों को आपसे अवश्य लाभ हो सकता है। तीर्थों में पापी लोग स्नान करके उन्हें काले बना देते हैं। जब आप जैसे परम भागवत जिनके हृदय में सदा हरि निवास करते हैं, उन तीर्थों में जाकर स्नान करते हैं, तब तीर्थ पवित्र हो जाते हैं। आप स्वयं तीर्थ करने ही नहीं गये थे, किन्तु तीर्थों को यथार्थ तीर्थ बनाने को ही भूमि पर विचरे थे। आप जैसे परोपकारी भगवत् भक्तों का यह स्वभाव ही है।"

इस प्रकार परस्पर कुशल प्रश्न और शिष्टाचार की बातें होती रहीं। तब महाराज युधिष्ठिर ने विदुरजी के रहने को मणिमय भवन दिया और उनके लिये समस्त दिव्य वस्तुयें उपभोग के लिये दीं। जिस प्रकार देवता स्वर्ग में सुख से रहते हैं, उसी प्रकार विदुरजी रहने लगे। उन्हें सांसारिक सुखों की

स्पृहा नहीं थी, न वे भोगों को भोगना ही चाहते थे, किन्तु पांडवों की प्रसन्नता के लिये और अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र की मङ्गलकामना के निमित्त वे कुछ काल तक राजधानी के भोगों को भोगते हुए धर्मराज के समीप रहे। साक्षात् प्राणियों को दण्ड देने वाले धर्मराज ने ही शूद्रा के गर्भ से मुनि शाप वश विदुर का शरीर धारण किया है, ऐसे महाबुद्धिमान् विदुरजी को पाकर धर्मराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे अपने समस्त राज कार्यों में विदुरजी की सम्मति लेते थे और उनसे पूछकर ही सब कार्य करते थे।"

छप्पय

विदुर देवव्रत लखे अंग पांडव न समाये।
मानों मृतक शरीर प्रान फिरते फिरि आये॥
पूछें पांडव चचा! हमें क्यों अस बिसराये।
कुन्ती बोलीं लला! भूलि तुम इत कित आये॥
प्रणय कोपयत मधुर अति, सुनत विदुर बोले वचन।
भाभी! भाग्य अधीन है, सुख दुख अरु बिछुरन मिलन॥

—o—

विदुरजी का अपने भाई धृतराष्ट्र को वैराग्योपदेश

[४५]

राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येद भयमागतम् ॥
प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो ।
स एव भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १३ अ० १८, १९ श्लोक)

छप्पय

धर्म रूप वे विदुर बन्धु तैं बोले बानी।
राजन् ! कुटिल कराल काल की कछु गति जानी॥
देखो, दौरयो काल सबनि के सम्मुख आयो।
चलो, त्यागि तत्काल बिलम कस यहाँ लगाओ॥
सगे सबहिँ सुरपुर गये, देह जर्जरित ह्वै गई।
जीवन आशा ना गई, अन्त समय दुर्गति भई॥

दुख के दिन कटने दुर्लभ हो जाते हैं, सुख के दिन व्यतीत होते हुए प्रतीत नहीं होते। हम अनेक कार्यों के कारण व्यग्र रहते हैं, किन्तु काल सदा अव्यग्र भाव से प्रतीक्षा करता रहता

---

* विदुरजी अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र से कह रहे हैं—"राजन् ! अब आप अति शीघ्र घर से निकल चलिये। यह देखिये, सामने साक्षात् भय ही आ रहा है, जिसकी कोई प्रतिक्रिया यहाँ नहीं है। वही हम सबके कालस्वरूप भगवान् यह सामने आ गये हैं। अतः हे प्रभो ! अब देरी करने का समय नहीं।"

है। हम स्त्री, बच्चे, गृह, कुटुम्ब आदि की चिन्ता में फँसे रहने के कारण असावधान रहते हैं, किन्तु काल सदा सावधान हुआ अन्त समय की बाट जोहता रहता है। हम विषय सुखों में जो-दाद के खुजाने की तरह क्षणिक सुखदायी हैं, उनमें प्रमत्त हो जाते हैं, किन्तु काल अप्रमत्त भाव से हमारा पीछा करता रहता है। हम आकाश, पाताल, पृथ्वी, घर, वन, शैया, आसन, वाहन कहीं भी क्यों न रहें, काल हमारा पीछा नहीं छोड़ता। वह कभी अपनी गणना में भूल नहीं करता, किसी के भी साथ उसे शील संकोच नहीं। तुम चाहे अपना उद्देश्य भूल भी जाओ, पर वह तो कार्य करता ही रहेगा।

बहुत दिनों में पांडवों को पुनः ऐश्वर्य प्राप्ति हुई थी, धर्मराज ससागरा समस्त वसुन्धरा के एकछत्र सम्राट थे। सभी भाई, सेवक, मन्त्री, अमात्य उनके वशवर्ती थे। सदा सावधानी के साथ उनकी सभी आज्ञाओं का अविलम्ब पालन होता था। अश्वमेध यज्ञों के कारण पृथ्वी से लेकर स्वर्ग तक उनका यश फैल गया था। कुल को बढ़ाने वाले सर्व लक्षण सम्पन्न पौत्र की प्राप्ति हो चुकी थी। द्रोपदी अपने पतियों को परमात्मा मानकर पूजती और आदर करती थीं। भगवान् के अनुग्रह से धन सम्पत्ति की कुछ भी कमी नहीं थी। सभी पांडवों की मति धर्म में रत थी। वे धर्मपूर्वक यथेष्ट कामों का सेवन करने लगे। अपने आश्रितों के सभी मनोरथों को पूर्ण करने लगे। धृतराष्ट्र को वे पिता से भी बढ़कर मानते। धर्मराज प्रातः उठकर सबसे प्रथम अपने भाइयों सहित-अपने पिता-माता के तुल्य-धृतराष्ट्र और गान्धारी के महलों में जाते। जब वे शैया पर ही सोते रहते, तभी उनके चरणों में सिर रख उन्हें प्रणाम करते। उनसे कुशल प्रश्न करते, फिर आदर्श सती गान्धारी की चरण वन्दना करते। माता कुन्ती से भी अधिक वे उनका आदर करते।

धर्मराज के ऐसे प्रेम-पूर्वक सद्व्यवहार से वे दोनों पति-पत्नी अत्यन्त ही सन्तुष्ट होते और रोज उन्हें भाँति-भाँति के आशीर्वाद देते।

धर्मराज हाथ जोड़कर आगे खड़े हो जाते, और उनसे प्रत्येक कार्य की आज्ञा माँगते। उनके सुख का अत्यधिक ध्यान रखते। कुन्तीजी तो अपने महल को छोड़कर गान्धारी के ही पास आ गई थीं। यद्यपि वे गान्धारी की देवरानी थीं, किन्तु अपनी जिठानी का वे सगी सास के समान आदर करतीं। इतनी दासियों के रहने पर भी वे धृतराष्ट्र और गान्धारी के सभी कामों को अपने हाथों ही करतीं। जब कभी गान्धारी मना करतीं, तो आँखों में आँसू भरकर कहतीं—"जीजीजी! मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ मुझे, यह सेवा बड़ी कठिनता से प्राप्त हुई है।" कुन्ती के ऐसे प्रेम को देखकर दोनों पति-पत्नी मन ही-मन बहुत प्रसन्न होते।

भीमसेन का स्वभाव कुछ क्रोधी था। धृतराष्ट्र की पुरानी बातों को कभी याद करते, तो धर्मराज उन्हें डाँटकर अपने शरीर की शपथ दिलाते हुए कहते—"भीम! यदि तुमने मेरे पिता-माता से भी बढ़कर माननीय और पूज्य धृतराष्ट्र और गान्धारी से सम्मुख कोई भी बात कही, तो निश्चय ही मैं राज्य-पाट छोड़कर अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा।" इसी डर से भीमसेन कुछ भी नहीं कहते थे। इस प्रकार पाँडवों का समय बड़े आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। वे अपने अतुल ऐश्वर्य के कारण देवताओं को भी जो भोग दुर्लभ हैं उनका उपभोग करते-करते आने वाले काल को भूल गये, किन्तु काल कब मानने वाला था, वह पांडवों के समीप आ ही गया।

धर्मावतार विदुर ने अपनी दिव्यदृष्टि से देखा कि पाण्डवों का तो अब काल पूरा हो रहा है। काल स्वरूप भगवान् उन्हें

लेने के लिए आ रहे हैं और ले जाने की बड़ी व्यग्रता के साथ तैयारियाँ कर रहे हैं। उन्हें पाण्डवों की चिन्ता नहीं थी, क्योंकि वे कृष्ण कृपा प्राप्त थे। उन्हें चिन्ता थी अपने अन्धे ज्येष्ठ भाई की। वे उन्हें घर में रहकर मरने देना नहीं चाहते थे। किन्तु धृतराष्ट्र धर्मराज की सेवा से इतने वशीभूत हो गये थे, कि वे उनके मन के विपरीत कोई भी कार्य करना नहीं चाहते थे। सच्चे शुभचिन्तकों का काम होता है, कि वे डाँटकर, डपटकर, कठोर वचन कहकर, जैसे भी हो अपने सगे सम्बन्धी का हित करें। जो असन्तुष्ट होने के भय से अपने बन्धु-बान्धवों और मित्रों से हित की बात नहीं कहते, सदा चाटुकारिता ही करते रहते हैं, वे सुहृद् न होकर शत्रु ही हैं। सुहृद् का तो कार्य है जैसे भी हो अपने बन्धु का कल्याण करना। विदुरजी वैसे ही बन्धु थे। जब उन्होंने देखा, कि मेरे भाई शीलसंकोच से भोगों में और सम्बन्धियों में इतने अधिक आसक्त हो गये हैं, कि वे मीठी बातों से कभी मान नहीं सकते, तो वे उनसे कठोर वचन कहने लगे।

विदुरजी बोले—"प्रभो! अब आप यहाँ क्यों फँसे हुए हैं। यद्यपि आप बाह्य नेत्रों से रहित हैं। किन्तु आपकी प्रज्ञा ही चक्षु हैं, आप अपने सम्मुख काल भगवान् को नहीं देखते? अब ये फेंट बाँधकर कपड़े सम्हाल कर, हमें भक्षण करने को ही उद्यत हैं।"

धृतराष्ट्र ने दुखित होकर कहा—"भैया, विदुर! तुम बड़े ही बुद्धिमान् हो, सभी विषयों के पंडित हो। इस काल को रोकने का कोई उपाय करो। जप-तप, अनुष्ठान, यन्त्र-मन्त्र जिससे भी इसकी प्रतिक्रिया हो सके, धर्मराज से कहकर उसी को कराओ।"

विदुरजी अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"राजन्! यह काल ऐसा दुर्निवार है, कि इसको हटाने का कोई भी उपाय नहीं, यह अटल और अमिट है। इसीलिये आप अपना कल्याण

चाहते हैं, तो शीघ्र ही इस बन्धन रूपी गृह को त्याग कर तपोवन की ओर प्रस्थान कीजिए। यदि आप न गये और यहीं सड़ते रहे, तो यह दुष्ट काल आपके शरीर को खा जायेगा। ये

सब सामग्रियाँ यहीं ज्यों की-त्यों पड़ी रह जायँगी। अन्त समय में कुटुम्ब परिवार की चिन्ता करते हुए मरे, तो इन्हीं में पुनः

पुत्र बनकर पैदा होना पड़ेगा, क्योंकि "अन्ते या मतिः सा गतिः।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर! अभी मरने की इच्छा नहीं होती, धर्मराज ने मुझे अपने प्रेमपाश में कसकर बाँध लिया है।"

विदुरजी बोले—"छिः-छिः, अब भी आपको जीने की आशा बनी हुई है। आपके पिता, भ्राता, मित्र, पुत्र सभी तो मारे गये। स्वयं आपकी सब इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। देह जर्जरित हो गई, इतने पर भी जीवित बने रहना चाहते हैं। फिर अपने घर में नहीं, दूसरे के टुकड़े खाकर। राम-राम! आपकी वृद्धावस्था में कैसे बुद्धि भ्रष्ट हो गई? मुझे आपसे ऐसी आशा नहीं थी।"

धृतराष्ट्र ने बड़ी दीनता से कहा—"विदुर, भैया! आज तू मुझे क्यों इतनी कठोर-कठोर बातें सुना रहा है। अरे भैया, मैं एक तो अन्धा हूँ, दूसरे मेरे सब पुत्र-पौत्र, बन्धु-बान्धव मारे गये उन दुष्टों ने मुझे सदा दुःख ही दिया। दुर्योधन ने कभी मेरी श्रद्धा से सेवा नहीं की। यथार्थ पुत्र का सुख तो मुझे धर्मराज के राज्य-काल में ही प्राप्त हुआ है। तुमने पहिले कहा भी था, इस दुष्ट दुर्योधन का कुल की रक्षा के लिए परित्याग कर दो, किन्तु पुत्र स्नेह से मैं ऐसा न कर सका। वह स्वयं ही अपने पाप से बन्धु-बान्धवों सहित मारा गया। अब तुम धर्मराज के घर को दूसरे का घर क्यों बताते हो? वे तो मेरा पांडु भैया से भी अधिक सत्कार करते हैं।"

विदुर ने अत्यन्त ही प्रेम-रोष के स्वर में डाँटते हुए कहा—"राजन्! ये बातें कहते हुए आप लज्जित नहीं होते? धर्मराज जो भी कुछ करते हैं, वह उनके अनुरूप ही है। उनको ऐसा करना शोभा देता है। वे धर्म के मर्म को जानते हैं, आपकी सेवा करके अपने परलोक को बना रहे हैं, किन्तु आपको अपनी ओर

भी तो देखना चाहिए। आपने उनके साथ कैसा व्यवहार किया ? वारणावत में जब पांडवों को जला देने की मन्त्रणा हो रही थी, तो क्या आपको इस बात का पता नहीं था ? भीम को विष (जहर) देकर मार डालने की दुष्ट दुर्योधन ने कुमन्त्रणा की और लड्डुओं में विष खिला दिया था, यह बात क्या आपके बिना पूछे की गई ? भरी सभा में जब सती-साध्वी द्रौपदी को दुष्टों ने नग्न करने का प्रयत्न किया, तो आप तो वहाँ सिंहासन पर मुँह मटकाते हुए बार-बार पूछ रहे थे—"अब क्या हुआ ? अब क्या हुआ ?" उस समय पांडव आपके पुत्र नहीं थे ? उस समय द्रौपदी किसी म्लेच्छ की बहू थी ? क्यों यही बात है न ? जुए की सभा तो आपकी सम्मत्ति से ही सजाई गई थी। पांडवों का राज्य, धन तो आपके सामने ही शकुनी आदि दुष्टों ने अपहरण किया, चीर-वल्कल पहिनाकर वन के लिए पाण्डव तो आपके सामने ही निकाले गये, उस समय पाण्डव बेटे नहीं थे ? क्योंकि बिना प्रयत्न का माल मिल रहा था। अब जब मर गये, तो अब पाण्डव मेरे बेटे हैं, द्रौपदी मेरी बहू है। मीठा-मीठा गप्प-गप्प, कड़वा-कड़वा थू ! छिः-छिः आज आपको पुत्र स्नेह उत्पन्न हुआ है। भीम के मन की बात आप नहीं जानते क्या ? धर्मराज की आज्ञा से संकोचवश जैसे द्वार पर बैठे कुत्ते को टुकड़ा डाल देते हैं, ऐसे ही भीम सब सामग्रियाँ तुम्हारे यहाँ फेंक जाता है, और तुम समझते हो मेरे बेटे मेरी सेवा कर रहे हैं। राजन् ! आप अत्यन्त शोचनीय हैं। देखिये, जिस शरीर को आप इतना पाल-पोस रहे हैं, वह एक दिन आपको अकस्मात् त्यागकर चला जायगा। इसलिए आप अपने कल्याण के लिए कुछ करें।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर ! भैया, कह तो तुम ठीक रहे हो। पाण्डवों के साथ मैंने जो व्यवहार किया है, उसे यदि सोचा जाय तो, मैं इन्हें मुँह दिखाने योग्य भी नहीं हूँ। इतने पर भी

पाण्डव पिता से भी बढ़कर मेरी सेवा कर रहे हैं, यह उन्हीं के अनुरूप है और मैंने जो दुष्टतायें की हैं, वे मेरे दुष्ट स्वभाव के ही अनुकूल थीं। अब भैया, तुम ही बताओ, मुझे क्या करना चाहिए ? कौन-सा कार्य करने में मेरा कल्याण है ?"

विदुर बोले—"राजन्! देखिये, यह जो शरीर है, कहने को तो लोग इसे श्रेष्ठ कहते हैं, किन्तु है यह मल-मूत्र का थैला। रोम-रोम से सदा इसमें से मल बहता रहता है। फिर इसमें असंख्यों व्याधियाँ भरी पड़ी हैं। इन व्याधियों के कारण विवश हुआ प्राणी अधीर हो जाता है। वह विषयों के अधीन होकर गृह में ऐसा अनुरक्त हो जाता है, जैसे शरीर में। ये प्राणी शरीर को ही आत्मा मानकर उसमें बँध जाते हैं। उसी प्रकार घर में भी ममता हो जाती है। किन्तु घर-बार, कुटुम्ब-परिवार यहाँ तक कि इस इतने यत्न से पाले-पोसे शरीर को भी त्यागकर जीवात्मा चला जाता है। इसलिए बुद्धिमानी इसी में है, कि जब तक अन्तिम काल समीप नहीं आता, तभी तक इन सबकी ममता त्यागकर तपोवन में तीर्थ स्थान में जाकर आत्मचिन्तन करना चाहिए। अधीरता को भगा देना चाहिए। इस प्रकार जो इस शरीर को अप्रयोजनीय समझ कर, मोह बन्धन से रहित होकर, विरक्त भाव से कुटुम्बियों से अज्ञात रहकर, इस शरीर का भगवत् चिन्तन करते हुए त्याग करता है, वही धीर कहलाता है। राजन! आप ज्ञानी हैं। धीरों के मार्ग को ग्रहण करें, इस गृहस्थी के मोह-जाल को काटकर तपोवन में चलें।"

धृतराष्ट्र बोले—"सबको तो तुम्हारी तरह ज्ञान होता नहीं। सब अपने आप गृह का त्याग कैसे कर सकते हैं ?"

विदुरजी ने कहा—"हे कुरुकुल तिलक! बिना त्याग के कल्याण नहीं, आसक्ति बन्धन का हेतु है। अतः चाहे अपने आप अथवा दूसरों के उपदेश से इन बाह्य वस्तुओं से विरक्त

होकर, हृदय से सभी वासनाओं को निकाल कर और वहाँ भगवान् वासुदेव को विधिवत् बिठाकर, घर छोड़कर जो वन के लिए निकल पड़ता है, वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है। यदि अन्त तक इसी मोह जाल में जकड़े रहे और पुत्र पौत्रों और कुटुम्बियों का मुख देखते हुए खटिया पर पड़े-पड़े सड़कर वहीं मर गये, तो उनमें और पशु पक्षियों में क्या अन्तर है ? इसलिए राजन! आप मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिये और अभी सबको छोड़-छाड़ कर परमपावन उत्तराखण्ड की पुण्य भूमि की ओर चल पड़िये।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर, इतनी ममता से इतने हित की बात कहने वाला भैया, संसार में दुर्लभ है। तुम मेरे भाई क्या हो, मेरे गुरु हो, मेरे देवता हो। अब भैया यह बताओ धर्मराज मेरे ऊपर बहुत अधिक श्रद्धा रखते हैं। उनके सम्मुख यदि मैं ऐसा प्रस्ताव रखूँगा, तो वे मुझे कभी भी जाने न देंगे। मैं बहुत आग्रह करूँगा, तो वे बच्चों की तरह रोने लगेंगे और मेरे पीछे-पीछे रोते हुए राज्यपाट छोड़कर चल देंगे। यद्यपि वे अब बूढ़े हो गये हैं, किन्तु मेरे सामने वे बालकों की ही तरह व्यवहार करते हैं। मैं और तो सब कुछ कर सकता हूँ, किन्तु धर्मराज को दुखी नहीं देख सकता। ऐसा कोई उपाय बताओ, कि धर्मराज मुझे प्रसन्नता से तपोवन में जाने की अनुमति दे दें।"

विदुरजी ने कहा—"प्रभो! धर्मराज आपको कभी भी अनुमति नहीं दे सकते। आप उनसे बिना पूछे, अज्ञात भाव से ही निकल चलिये।"

रोते-रोते धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर! तुम मेरी ओर देख नहीं रहे हो ? कितना बूढ़ा हो गया हूँ, जन्मान्ध होने से मुझे रास्ता भी दिखाई नहीं देता। गान्धारी जो मुझे मार्ग दिखा

सकती थी, वह मेरे कारण आँखें रहते हुए भी अन्धी बन गई है। कौन मुझे तपोवन का मार्ग दिखावेगा, कौन मुझ अन्धे की लकड़ी पकड़ेगा ?"

विदुरजी ने कहा—"राजन् ! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं। आपकी लकड़ी तो मैं हूँ। भाई का यही तो कार्य है, कि सब कार्यों में कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर भाई का साथ दे। मैं आपको रास्ता बताऊँगा, मैं आपको तपोवन ले चलूँगा।"

धृतराष्ट्र का हृदय भर आया। उन्होंने हाथों से टटोल-टटोल कर विदुरजी को अपनी छाती से लगाया और रुँधे हुए कंठ से गद्गद स्वर में कहने लगे—"विदुर ! मेरी डगमगाती जीवन नौका के तुम्हीं एकमात्र सुयोग्य कर्णधार हो। अच्छा भैया, जैसा तुम कह रहे हो, वैसा ही हो। अब शीघ्र ही हम लोगों को यहाँ से चल देना चाहिये।"

इस प्रकार दोनों भाइयों ने निश्चय कर लिया। अब वे किसी प्रकार गृह को त्यागकर अज्ञातभाव से निकल भागने को सोचने लगे।"

छप्पय

जिनकूँ तुमने देव ! दुसह दुख दारुण दीन्हें।
दारा दूषित करी द्रव्य हरि भिक्षु कीन्हें ॥
श्वान समान अमान उन्हीं के टुकड़े खाओ।
रक्त सुरक्षित भोग भोगते नहीं लजाओ ॥
चलो उत्तराखण्ड कूँ, मोह पाश छेदन करो।
जन्म सफल तप करि करो, सब तजि हरि हिय में धरो ॥

विदुरजी के साथ धृतराष्ट्र का गृहत्याग

[४६]

एवं राजा विदुरेणानुजेन
प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः ।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नो
निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा ॥*

(श्री भा० १ स्क० १३ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

सुनत विदुर के वचन बन्धुवर अति हरषाये ।
गद्गद गिरा गँभीर नीर नयननि में छाये ॥
धन्य-धन्य लघुभ्रात हाथ गहि तात उबारयो ।
अन्धकूप में पतित-पतित कूँ पकरि निकारयो ॥
सबकूँ सोवत छोड़िके, गान्धारी के साथ में ।
विदुर बताये मार्ग तें, चले हाथ दे हाथ में ॥

जो हमें श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों की ओर झुकावे वही संसार में सच्चा सुहृद् है, जो हमें संसारी व्यवहारों से हटाकर

---

* इस प्रकार अपने छोटे भाई श्री विदुरजी के समझाने पर आजमीढ़ वंशावतंस श्री राजा धृतराष्ट्र जो अपने बन्धु-बान्धवों में जो स्नेह बन्धन की दृढ़ फँसी है, उसे बलपूर्वक तोड़कर, विदुरजी के बताये हुए तपोवन के मार्ग को घर से निकल पड़े ।

हरिभक्ति में लगावे वही हमारा वास्तव में बन्धु है। जो आत्मिक उन्नति में सहायक हो वही यथार्थ सम्बन्धी है। इनके अतिरिक्त जो मित्र, पुत्र, बन्धु-बान्धव हैं—वे तो केवल बन्धन के ही कारण हैं। संसार में और अधिक जकड़ देने वाले मोह पाश लिये हुए बन्धुरूप में बधिक हैं। विदुरजी धृतराष्ट्र के सच्चे हितैषी थे।

जब विदुर ने अपने बन्धु को बहुत भाँति से समझाया, तब धृतराष्ट्र की समझ में यह बात आ गई, कि अब अन्त समय में यहाँ रहने में मेरा कल्याण किसी भी प्रकार नहीं है। उन्होंने अपने भाई की बात मान ली और वे घर छोड़ने को उद्यत हो गये।

एक दिन रात्रि में जब सब सो गये, तब धृतराष्ट्र धीरे से उठे, उन्होंने विदुर का कन्धा पकड़ लिया और बोले—"चलो, चलें।"

गान्धारी जो सदा पति के पास ही रहती थी और अपने पातिव्रत के प्रभाव से सभी बातों को दिव्य दृष्टि से जानती थी, उसने भी अपनी लाठी उठाई और पति का पल्ला पकड़ कर वह भी चलने लगी।

भनक पाकर महाराज धृतराष्ट्र बोले—"कौन ? रानी ! तुम कहाँ चल रही हो ?"

गान्धारी ने कुछ व्यङ्ग के स्वर में कहा—"जहाँ राजा जा रहे हैं, वहीं रानी जायगी। राजा के बिना रानी की क्या शोभा ?"

धृतराष्ट्र ने अत्यन्त ही स्नेह के स्वर में कहा—"देवि ! हम लोग तो अब महाप्रस्थान की ओर जा रहे हैं। वहाँ न भोजन का ठिकाना है, न वाहन हैं और न दास-दासी ही हैं। पैदल अरण्यों और पर्वतों में भटकना पड़ेगा। वन के कसैले और कड़वे फलों पर निर्वाह करना पड़ेगा। सो स्वयं ढूँढ़कर लाने

पड़ेंगे। देवि ! तुम्हारा शरीर सदा सुख में पला है, तुम इस योग्य नहीं हो। यहीं कुन्ती के सहित कृष्ण कथा, कीर्तन करती हुई काल यापन करो।"

गान्धारी ने पूछा—"देव ! आज ये अनोखी बातें आप

क्यों कर रहे हैं ? छाया कभी शरीर से पृथक् रह सकती है ? चांदनी को क्या कोई चन्द्रमा से बिछुड़ा सकता है। प्रभा को कोई प्रभाकर से पृथक् कर सकता है ? शरीर के बिना जीव रह सकता है ? जल कभी शीतलता का सदा के लिये परित्याग कर सकता है ? मछली कभी जल के बिना जी सकती है। इसी प्रकार प्रतिव्रता कभी पति से विहीन बनकर रह सकती है ? मुझे भोग, वाहन, दास, दासी, ऐश्वर्य, धन नहीं चाहिये। मुझे आपकी आवश्यकता है, मेरे धन तो आप ही हैं। आप मेरे सर्वस्व हैं, आप जहाँ है वहाँ सब कुछ है। जहाँ आप नहीं, वहाँ सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है।"

बीच में ही विदुर बोले—"भाईजी ! अब वाद-विवाद का समय नहीं। मेरी पतिव्रता भाभी कभी मान नहीं सकतीं। ये आपके बिना रह नहीं सकतीं, आप इन्हें रोकें नहीं, चलने दें।" यह सुनकर धृतराष्ट्रजी ने फिर आपत्ति नहीं की। तीनों चुपचाप उठकर चल दिये। बुद्धिमान् विदुरजी ने पूर्व से ही ऐसा प्रबन्ध कर रखा था, कि किसी पहरे वालों को भी पता न चले। इसलिये वे रात्रि में ही इतनी कुशलता से नगर के बाहर हो गये, कि किसी को उनके जाने की बात ज्ञात नहीं हो सकी। विदुर बड़े बुद्धिमान थे। इसलिये वे उस दिन आगे नहीं बढ़े, क्योंकि आगे से धर्मराज चारों ओर अपने चर भेजकर उन्हें खोज लेते। इसलिये गङ्गा के किनारे के एक निर्जन स्थान में ही सूर्योदय से पहिले जाकर छिप गये।

इधर प्रातःकाल हुआ। धर्मराज नियमानुसार अरुणोदय में उठे। स्नान, सन्ध्या, वन्दन, अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर उन्होंने मङ्गल द्रव्यों का दर्शन स्पर्श किया। पुनः अपने आश्रित असंख्यों ब्राह्मणों को गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, तिल तथा विभिन्न प्रकार के अन्न वस्त्रों का दान दिया। पुनः जैसे

वे नित्य जाते थे, अपने पिता तुल्य धृतराष्ट्र की चरण वन्दना करने चले। उन्होंने जाकर वहाँ देखा, सभी वस्तुएँ अस्त व्यस्त भाव से बिखरी पड़ी हैं। उन्हें कुछ शङ्का-सी हुई। फिर सोचा सम्भव है शौचादि को गये होंगे। यह सोचकर उन्होंने गांधारी की शैया को देखा। वह भी शून्य पड़ी थी। उनका हृदय धड़कने लगा। विदुरजी की शैया के समीप गये, तो वह भी शून्य थी। अब उन्हें निश्चय हो गया, कि हमारे माता-पिता और चाचा हमें त्याग कर कहीं चले गये। उन्होंने हड़बड़ाहट के साथ उच्च स्वर से पुकारा—"संजय, संजय! शीघ्र आओ।" संजय कहीं गया थोड़े ही था। वह तो समीप में ही बैठा रो रहा था। उसे धर्मराज का आगमन विदित ही न हुआ। अब जब धर्मराज ने उच्च स्वर से पुकारा तब उसका ध्यान भंग हुआ। शीघ्रता से उठकर हाथ जोड़े हुए नेत्रों से आँसू बहाते हुए संजय चुप-चाप आकर धर्मराज के समीप खड़ा हो गया। आज उसने सदा की भाँति धर्मराज की स्तुति नहीं की। सूत को इस दशा में देखकर दयालु धर्मराज रोने लगे और रोते-रोते पूछने लगे—"संजय! मेरे माता-पिता कहाँ चले गये? हाय! आज मैं उनकी शैया को शून्य देख रहा हूँ। मैं उनकी चरण वन्दना करने आया था, किन्तु मुझे आज उनका दर्शन नहीं हो रहा है। मुझ पापी से ऐसा कौन-सा अपराध बन गया जिसके कारण वे असन्तुष्ट होकर हमें त्याग गये। हाय! संसार में हमारे बराबर भाग्यहीन कौन होगा? देखो, हमारे पिता बाल्यकाल में ही बिलखते हुए छोड़कर कालकवलित हो गये। अपने पितामह को मैंने अपनी दुर्बुद्धि से स्वयं मरवा डाला। अपने सम्पूर्ण कुल का विनाश मेरे ही कारण हुआ। एक मेरे बड़े पिता ही बचे थे, जिन्होंने पिता के पश्चात् हमें प्रेमपूर्वक पाला पोसा। मैं समझता था इन्हीं की सेवा करके

मैं अपने पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित करूँगा, सो वे भी मेरी कुटिलता के कारण पता नहीं कहाँ चले गये ? ये अब अधिक जीवित न रहेंगे। उनके सभी पुत्र मारे गये। वे स्वयं नेत्रहीन हैं, उन्हें कुछ दीखता भी नहीं। निश्चय ही उन्होंने गङ्गाजी में कूदकर अपने प्राणों का परित्याग कर दिया होगा। विदुरजी तो हमारे प्राण दाता हैं। पिता के पश्चात् वे ही तो हमारी रक्षा करते रहे। उन्होंने ही तो हमें विपत्तियों के भीषण बवण्डरों से बार-बार बचाया। संजय ! तुम तो मेरे पिता और चाचा के सदा समीप ही रहते थे, वे बिना तुम्हारी सम्मति के कैसे जा सकते हैं ? तुम ही उनके सम्मति दाता एकमात्र विश्वासनीय मन्त्री थे। अवश्य ही वे तुमसे पूछकर गये होंगे। तुम मुझे उनका पता अभी बताओ। जैसे छोटा बछड़ा अपनी माँ के पीछे दौड़ जाता है, उसी प्रकार पता पाते ही मैं भी उसी स्थान को दौड़ा जाऊँगा और वे जहाँ भी रहेंगे वहीं उनकी सेवा सुश्रूषा करूँगा।"

सूत स्वयं दुखी थे। शोक के कारण उनकी सभी इन्द्रियाँ आकुल थीं। नेत्रों से निरन्तर अश्रुप्रवाह हो रहा था। कण्ठ गद्‌गद हो जाने के कारण कुछ भी बोलने में वे असमर्थ थे। धर्मराज उनसे बार-बार प्रश्न पर प्रश्न कर रहे थे। अन्त में धैर्य धारण करके उन्होंने अपने अश्रुओं को पोंछा। विचार द्वारा चित्त को स्वस्थ करके वे प्रकृतिस्थ हुए और अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों का चिन्तन करते हुए हाथ जोड़कर कहने लगे—"प्रभो ! आप मेरी बात पर विश्वास करें। मैं आपसे सत्य-सत्य कहता हूँ। इस विषय में उन्होंने कभी मुझसे सम्मति नहीं ली। उनके मन में क्या बात थी, समीप रहते हुए भी मुझे उसका आभास भी मालूम न हो सका। सम्भव है, विदुरजी के साथ उनकी कुछ सम्मति हुई हो। आपके दोनों

चाचा ताऊ और ताई गान्धारी कहाँ गई, मुझे इसका तनिक भी पता नहीं है। हे कुरुकुल तिलक ! मुझे अब तक यही विश्वास था कि महाराज धृतराष्ट्र मुझसे पूछे बिना कोई कार्य नहीं करते। अब तक होता भी ऐसा ही था। चाहे छोटी-से-छोटी बात हो या बड़ी-से-बड़ी पहिले वे मुझसे पूछ लेते। मेरी सम्मति होती तो करते और यदि मेरी सम्मति न होती तो स्वयं इच्छा होने पर भी उसे नहीं करते थे। इसी का मुझे गर्व था, किन्तु आज वह मेरा गर्व खर्व हो गया। मुझे उन महाराज ने ठग लिया। इतना स्नेह और विश्वास बढ़ाकर अन्त में मेरे साथ वञ्चना की। मुझ पापी को उन्होंने अपनी सेवा से पृथक् कर दिया। मुझे वे अपने साथ नहीं ले गये। अब मैं इस वृद्धावस्था में अपने स्वामी से वंचित होकर कैसे जीवन धारण कर सकूँगा ? इतना कहते-कहते संजय फूट-फूटकर रोने लगे। धमराज को निश्चय हो गया, कि जिस प्रकार मुझसे नहीं कहा उसी प्रकार वे संजय से भी बिना कहे चले गये। उन्होंने सोचा—"सायंकाल तो सभी सुखपूर्वक मेरे सामने ही सोये थे। वे अर्धरात्रि के पश्चात् ही गये होंगे। एक तो वे वृद्ध हैं, दूसरे अन्धे हैं। अभी तो वे दूर भी न पहुँचे होंगे। अतः मैं शीघ्र ही चारों ओर सैनिकों को भेज कर उनकी खोज कराऊँ।"

धर्मराज ऐसा सोच ही रहे थे, उनका रोना-धोना सुनकर उनके भाई भी आ गये। महारानी कुन्ती भी रोती-रोती आई और वे भी अपने जेठ-जेठानी तथा देवर विदुर को न देखकर फूट-फूटकर रोने लगीं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमने सुना था, कुन्ती धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ-ही-साथ तपोवन को गई थीं। आप कहते हैं धृतराष्ट्र गान्धारी और विदुर ये तीनों ही गये, यह क्या बात है ?"

सूतजी बोले—ऋषियो ! ऐसा भी किसी कल्प में हुआ होगा। कल्प भेदों से कथाओं में कुछ थोड़ा बहुत अन्तर हो जाता है। संसार में कोई नई बात नहीं होती। पुरानी घटनाओं को बार-बार पुनरावृत्ति होने का ही नाम इतिहास है। प्रत्येक कल्प के द्वापर के अन्त में महाभारत होता है। उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है। किसी-किसी कल्प में कुछ कमी बेशी हो जाती है। इस भागवती कथा के प्रसंग में तो पांडवों की जननी महारानी कुन्ती तपोवन में नहीं गई। उनका मन तो श्रीकृष्ण में अटका हुआ था, अर्जुन द्वारका गया हुआ था, वह लौटकर आ जाय और अपने परम रक्षक श्रीकृष्ण का समाचार सुन लूँ, तभी आगे का कर्तव्य निश्चय करूँ। यही सब सोचकर कुन्ती वहीं रहकर उदास मन से किंकर्तव्यविमूढ़-सी बनी हुई हस्तिनापुर में ही रहीं।"

धर्मराज ने चारों ओर चरों को भेजने का प्रबन्ध किया, किन्तु वे नहीं मिले। धर्मराज चिन्तित रहने लगे। एक दिन राम-कृष्ण गुन गाते, वीणा बजाते, देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे। नारदजी को देखकर सभी पाण्डव उसी प्रकार प्रसन्न हुए, जिस प्रकार अथाह जल में डूबते हुए मनुष्य दृढ़ नौका को अपनी ओर आते देखकर प्रसन्न होते हैं। जिस प्रकार मरते हुए को संजीवन मिल जाय, भटकते हुए जन्मांध की सहसा आँखें खुल जायँ—उसी प्रकार नारदजी को देखकर सबको विश्वास हो गया, कि ये ऋषि सर्वज्ञ हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की कोई भी बात इनसे छिपी नहीं है, अब अवश्य ही सभी का पता चल जायगा। यही सब सोच रहे थे, कि नारदजी समीप आ गये। सभी ने उठकर उनके चरणों की वन्दना की। पाद्य-अर्घ्य आदि देकर विधिवत् उनकी पूजा की। जब ऋषि स्वस्थ चित्त होकर सुखपूर्वक बैठ गये, तब धर्मराज हाथ जोड़कर उनसे पूछने लगे।

धर्मराज बोले—"प्रभो ! आज मैं एक बड़ी भारी चिन्ता में मग्न हूँ। उससे आप मेरा उद्धार कीजिये।"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! मैं आपके मुख-मंडल को ही देखकर समझ गया हूँ, कि आप किसी भारी शोक से सन्तप्त हैं। आप अपने दुःख का कारण मेरे सम्मुख कहिये।"

धर्मराज हाथ जोड़कर बोले—"भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं, आपके सम्मुख कुछ कहना भी धृष्टता करना ही कहा जायगा। आप समस्त प्राणियों के घट-घट की बातें जानते हैं, फिर भी जब आप पूछ ही रहे हैं, तो मैं बताता हूँ। मेरे पिता के सदृश महाराज धृतराष्ट्र और समस्त नीतिज्ञों में श्रेष्ठ मेरे चाचा विदुर रात्रि को माँ गान्धारी के सहित स्वस्थ होकर सोये थे। किन्तु जब मैं प्रातः उनकी चरण-वन्दना के निमित्त गया, तो वे वहाँ नहीं मिले। इसी दुःख के सागर में मेरा हृदय डूब रहा है। इससे पार जाने का पथ दिखाई नहीं देता। आप ही इस शोक के सागर से पार करने वाले कुशल कर्णधार हैं। हे प्रभो ! आप यह बतावें कि वे मेरे दोनों पितृव्य और तपस्विनी माँ गान्धारी हमें छोड़कर बिना कहे क्यों चले गये ? कहाँ चले गये ? किस अपराध से उन्होंने हमारा त्याग किया ?"

धर्मराज के स्नेह में सने हुए सुन्दर शोकयुक्त वचन सुन कर बोलने वालों में श्रेष्ठ महामुनि भगवान् नारदजी कहने लगे—"राजन् ! इतने ज्ञानी, ध्यानी, तेजस्वी, तपस्वी होकर आप ये कैसी भूली-भूली-सी बातें कह रहे हैं ? कौन किसको सुख और दुःख दे सकता है ? यह सम्पूर्ण संसार उन्हीं सर्वेश्वर के संकेत पर नाच रहा है। ये सभी जीव दैव के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं। पृथ्वी के दाने-दाने पर सबकी छाप लग रही है। जल के कण-कण पर सबका नाम लिखा है। जिसकी जितने दिन तक जहाँ के अन्न-जल पर छाप है, वह उतने दिन तक वहाँ

अवश्य-अवश्य रहकर अपने भाग्य के भोगों का उपभोग करेगा। जहाँ उसकी अवधि समाप्त हुई, लाख प्रयत्न करने पर भी वह उससे अधिक वहाँ नहीं रह सकता। यह चराचर विश्व उन्हीं प्रभु की प्रेरणा से प्रेरित होकर समस्त क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी सरीसृप, वृक्षों आदि की तो बात ही क्या-जितने ये इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल कहे जाते हैं, वे भी उनकी प्रेरणा के बिना कुछ नहीं कर सकते।"

धर्मराज बोले—"भगवन्! यह तो ठीक है, किन्तु प्रियजनों के संयोग से सुख और वियोग से दुःख तो होता ही है।"

नारदजी बोले—"होता है तो होता रहे। आप सुख-दुःख करके संयोग-वियोग को अन्यथा कर सकते हैं? जिसके साथ संयोग होना होगा, वह अवश्य होगा, प्रयत्न करने पर भी आप उसे टाल नहीं सकते। काल पाकर होने वाला वियोग अवश्य-म्भावी है। तुम यों समझो जैसे हाथी हाथीवन के, घोड़ा सवार के, नथा हुआ बैल किसान के अधीन है, उसी प्रकार यह प्राणी प्रारब्ध के अधीन है। उन्मत्त हुए हाथी, घोड़ा, बैल भैंस भले ही बन्धन तोड़कर कभी स्वेच्छाचरण कर भी जायँ, किन्तु मनुष्य प्रारब्ध को तोड़कर कभी स्वेच्छाचरण नहीं कर सकता। उसे तो प्रारब्ध की परिधि में ही रहना पड़ेगा।"

धर्मराज बोले—"तब फिर ये संन्यासी, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ आदि जो स्वेच्छा से धर्माचरण और साधन करते हैं, वह कैसे करते हैं?"

नारदजी बोले—"स्वेच्छा से कहाँ करते हैं? भैया, ये सब वेद-शास्त्र रूपी डोरों की आज्ञा में बँधे हुए विवश होकर प्रारब्ध कर्मानुसार ही कार्य करते हैं। इस विषय में तुम एक दृष्टान्त सुनो। कोई छोटा बच्चा है, उसने खेल-खेल में बालू का एक घर बनाया, नदी से चिकनी मिट्टी लाकर उसके हाथी, घोड़ा, ऊँट,

बछेड़ा आदि बहुत-से खिलौने बनाये। घर में एक घुड़साल बनाई, उसमें घोड़े बाँध दिये। गोशाला बनाकर उसमें गौ, बछड़े बाँध दिये। बहुत-से स्त्री पुरुष उसी चिकनी मिट्टी के बना-बना कर बिठा दिये। कहने को तो सबके नाम हैं। स्त्री, पुरुष, नौकर, चाकर, स्वामी, सम्बन्धी, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बैल, भैंस, किन्तु वे सब हैं चिकनी मिट्टी के ही। सबमें एक पदार्थ है। केवल आकृति का भेद है। सो आकृति भी उस बच्चे ने अपनी बुद्धि से बना दी है। अब जिस खिलौने को वह जहाँ चाहे रख सकता है। गौओं में घोड़ों को बाँध दे, तो वे मिट्टी के खिलौने मना नहीं कर सकते। मनुष्यों के सिर पर बिठा दे तो वे मिट्टी के मनुष्य उन्हें फेंक नहीं सकते। बालक का विनोदमात्र है। जब उसकी इच्छा होती है, सबको तोड़-मरोड़ कर फिर बिगाड़ देता है। बस "मनुआ मरि गयो, खेल बिखरि गयो" सब एकम हो गये। इसी तरह यह जगत् जगतपति की क्रीड़ा-स्थली है। जब जिसके साथ जिसको चाहता है, संयोग कर देता है, जब इच्छा होती है वियोग कर देता है।"

धर्मराज बोले—"भगवन्! यह प्रारब्ध वाली बात तो ठीक है, फिर भी हमारे चाचा-चाची इतने दिन साथ रहे, हमारा पालन-पोषण किया। उनके लिये सोच तो होता ही है।"

नारदजी बोले—"आप उनकी किस चीज के लिए शोक कर रहे हैं। उनमें तीन भाव हैं, एक देह, दूसरा जीव, तीसरा ब्रह्म। देह तो अनित्य है, उसका नाश अवश्यम्भावी है, आज नहीं कल, कल नहीं परसों, उसका तो नाश होगी ही। जिसका नाश निश्चित है उसके लिए चिन्ता करना चतुर पुरुषों को शोभा नहीं देता। जीव अविनाशी है, उसका कभी नाश होता नहीं। जब उसका नाश ही नहीं तो उसकी चिन्ता ही क्या। चिन्ता तो गई चीज की होती है। ब्रह्म इन दोनों भावों से रहित है।

अब आप किसका शोक करते हैं ? यह आपका केवल मोहजन्य स्नेह ही है। इसी कारण इतने दुखी हो रहे हैं।"

धर्मराज बोले—"अच्छी बात है, महाराज शोक न भी करें तो मेरे ताऊ, ताई अन्धे हैं। उन्हें कुछ दीखता भालता नहीं। उनकी रक्षा का भार तो मेरे ऊपर है।"

नारदजी हँसे और बोले—"राजन् ! जब तक वे यहाँ रहे, उनकी सेवा करना आपका धर्म ही था। जब वे स्वेच्छा से गृह त्यागकर वन को चले गये, तो आप कहाँ-कहाँ किस-किसकी रक्षा करते फिरेंगे ? गर्भ में बालक की रक्षा करने आप जाते हैं ? पानी में कितने जल जन्तु रहते हैं, उन सबको आप ही अपने महल से आहार पहुँचाते हैं ? आकाश में कितने जन्तु रहते हैं, उनका पालन कौन करता है ? कुरुकुल तिलक ! आप इस भ्रम को हृदय से निकाल दीजिये कि मेरे बिना उनकी रक्षा कौन करेगा ? वे मेरे ताऊ, ताई, चाचा आदि मेरे बिना कैसे जीवेंगे ? भगवान् ने जन्म के साथ ही सब वृत्ति बना दी है। सभी का यह पञ्चभौतिक शरीर काल, कर्म और तीनों गुणों के अधीन है। अन्तर इतना ही है, किसी के पुण्य अधिक हैं, किसी के पाप अधिक हैं। कोई सत्त्वगुण प्रधान है, कोई रजोगुण या तमोगुण प्रधान। जब सभी काल कर्म और गुणों से विवश होकर चेष्टायें कर रहे हैं, तो वे फिर अपने आप स्वतन्त्र भाव से दूसरों की क्या रक्षा कर सकते हैं। क्या कोई मरा हुआ आदमी दूसरों को मार सकता है ? स्वतः जल में डूबता हुआ, दूसरों को डूबने से बचा सकता है ? स्वतः जो विष पीकर मर रहा है, वह दूसरे विष से पीड़ित प्राणी की रक्षा कैसे कर सकता है। जिसे स्वयं सर्प ने डस लिया है, वह दूसरों की रक्षा करने में असमर्थ है।"

धर्मराज बोले—"महाराज ! यह तो आप बड़ी विचित्र बातें बता रहे हैं। तब तो दया, धर्म, परोपकार, पुरुषार्थ कुछ भी नहीं

रहा। कर्म के ही भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायँ, तब तो कोई कार्य ही न हो, भूखों ही मर जायँ।"

नारदजी बोले—"राजन्! पुरुपार्थ भी सभी नहीं कर सकते। पुरुपार्थ और उसका फल भी प्रारब्ध कर्म के अधीन है। फिर भगवान् ने सबके लिये सबकी वृत्ति निश्चित कर दी है। सभी जीव दूसरे जीवों के द्वारा ही जीते हैं। देखो, घास, पेड़ पत्ती सभी में जीव है। उन्हें खाकर पशु-पत्ती जीते हैं। पशुओं को नाथकर उनसे खेती करके अन्न पैदा करके मनुष्य जीते हैं। बहुत से निर्दय पुरुप भेड़, बकरी, हिरन आदि को मारकर भी खा जाते हैं। जल में रहने वाले बड़े-बड़े तिमिङ्गिल जीव छोटी छोटी मछली आदि को खाकर जीते हैं। इस प्रकार सभी का जीवन जीवों द्वारा ही चल रहा है। तुम्हारे ताऊ, ताई, चाचा भी वन के फल फूलों पर निर्वाह कर सकते हैं। उनके लिये आपको चिन्ता करना व्यर्थ है।"

धर्मराज आश्चर्य से बोले—"प्रभो! अद्भुत ज्ञान आप बता रहे हैं। वही भोज्य, वही भोक्ता। जीवों के द्वारा जीव जीवन धारण कर रहे हैं?"

नारदजी बोले—"और आप क्या समझते हैं। वे ही स्वयं प्रकाश भगवान् तो सभी रूपों में हँस रहे हैं। वे ही तो नाना रूप रखकर क्रीड़ायें कर रहे हैं। उनके अतिरिक्त और क्या है? फल फूलों में भी वे ही, उन्हें खाने वाले ऋषि मुनि के रूप में वे ही। महाभारत में जितने राजा मारे गये, सभी में वे ही आत्मरूप से निवास करते थे, फिर काल रूप रखकर सभी का संहार भी उन्होंने कर डाला। तुमने श्रीकृष्ण को क्या समझ रखा है। वे साक्षात् काल भगवान् हैं। जिन्हें तुम अपना सखा सम्बन्धी, मित्र, सारथि समझते हो—वे काल के भी काल हैं। पृथ्वी के भारभूत भूपतियों का संहार करके अभी यदुवंशियों

के संहार की बात सोच रहे हैं। जहाँ उन्होंने यह सब कर दिया, कि उसी समय वे इस धराधाम को त्यागकर अपने नित्य शुद्ध सनातन लोक में चले जायेंगे। भगवान् जब इस धराधाम को त्याग देंगे, तब इस पर कलियुग का प्रभाव छा जायगा। तब यह पृथ्वी रहने योग्य न रह जायगी। आप सब भी इसे त्यागकर महापथ का अनुसरण करेंगे।"

धर्मराज को अब ज्ञान हुआ। अरे, यह तो हम सबका काल एक साथ आ गया। मुझे भी अब शीघ्र ही गृहत्याग करना होगा। वे भगवान् काल को प्रत्यक्ष देखने लगे। उन्होंने पूछा—"हे सर्वज्ञ! आप तो सब जानते हैं। मेरे ताई, ताऊ और चाचा का समाचार बता दें। वे कहाँ गये?"

नारदजी बोले—"धर्मराज! आप चिन्ता न करें। वे सब धर्मात्मा हैं, उनकी दुर्गति कभी नहीं होने की। हिमालय से दक्षिण भाग में जहाँ से भगवती भागीरथी ने अपने पिता हिमालय की गोद से उतर कर, धीरे-धीरे घुँटुओं के सहारे पृथ्वी पर रेंगना आरम्भ किया है, उसी गङ्गा द्वार के समीप सप्तर्षियों के सुन्दर आश्रम हैं। सातों ऋषियों की तपस्या से प्रसन्न होकर और उन्हें प्रसन्नता प्राप्त कराने के निमित्त, जहाँ भगवती सुरसरी सात स्रोतों में अपने सलिल को विभक्त करके बही हैं, (इसलिये वह स्थान सप्तस्रोत के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है), वहीं तुम्हारे ताऊ, ताई और चाचा गये हैं और सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं।"

धर्मराज ने पूछा—"प्रभो! वहाँ वे करते क्या हैं और वहाँ उन्हें आहार कैसे प्राप्त होता है?"

नारदजी कहा—"धर्मराज! तुम भी ऐसी गड़बड़-सड़बड़ बातें करते हो। भैया! सच्चा आहार तो है श्रीकृष्ण का स्मरण, चिन्तन, गुण, लीला, श्रवण। तुम्हारे चाचा, ताई, ताऊ वही

आहार करके सन्तुष्ट हो रहे हैं, देखो, वे नित्य प्रति पुण्य-तोया भगवती भागीरथी में त्रिकाल स्नान करते हैं। अग्निहोत्र का तो अभी तक उन्होंने परित्याग किया नहीं है, किन्तु आहार का त्यागकर दिया है। वे नित्य नियम करके, अमृतोपम गङ्गाजी के पुनीत पय का ही प्रतिदिन प्रेम से पान करते हैं। वे कुछ भी नहीं खाते। उन्होंने सञ्जय के सहित आसन सहित प्राणायाम का अभ्यास करते हुए मन के सहित सभी इन्द्रियों का दमन कर लिया है। हे कुरुकुल मुकुटमणि धर्मराज! ये सत्व, रज, तम, ही बन्धन के हेतु हैं। ये गुण ही रस्सी हैं, ये ही जीवों को बाँधे हुए हैं। नित्य निरन्तर श्री-हरि के स्मरण से इन गुणों का मल नष्ट हो जाता है। जहाँ अहङ्कार को बुद्धि के साथ जोड़कर साक्षी चेतन में उसे लीन किया नहीं कि पुरुष त्रिगुणातीत हो जाता है। उस अवस्था में जहाँ साक्षी चेतन को शुद्ध सच्चिदानन्द घन के साथ संयोग कर दिया, तब फिर शेष रहा ही क्या? बिन्दु सिन्धु में मिल गया। विस्फुलिङ्ग अग्नि में मिलकर एक हो गये। घट का आकाश महाकाश में मिल गया। बस, जीव कृतकृत्य हो गया। उन्होंने ऐसा ही किया है। वे कायिक गुणों की वासना से रहित हो गये हैं। जब मन सहित इन्द्रियाँ अपने वश में हो जाती हैं, तो मन की जो स्वाभाविक विषयों की ओर अभिरुचि होती है, वह उनकी ओर से हट जाती है और विषयों के भोग से विराग हो जाता है। उस समय प्राणी प्राण रहते हुए भी स्थाणु हो जाता है। उसकी चंचलता नष्ट होकर निश्चय वृत्ति बन जाती है। वे दोनों इसी अवस्था में प्राप्त हैं।"

धर्मराज बोले—"तब तो भगवन्! मैं वहाँ जाऊँगा, जैसे होगा वैसे उन्हें लौटा लाऊँगा। भले ही वे मेरे महलों में न रहें।

गङ्गा किनारे उनका सब प्रबन्ध करूँगा और स्वयं सर्वदा सेवा में उपस्थित रहकर उनकी देख-रेख करूँगा।"

नारदजी बोले—"राजन्! यह तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है। देखो, वे तो मोह को त्यागकर ही यहाँ से गये हैं। तुमने उन्हें कोई कष्ट तो दिया ही नहीं। न वे तुमसे असन्तुष्ट ही होकर गये हैं। वे तुम सब बन्धु-बान्धवों को मृत्यु के समय देखना नहीं चाहते। सम्भव है, अन्त समय उनकी वृत्ति कुटुम्ब परिवार में लग जाय, जिससे उन्हें पुनः जन्म ग्रहण करना पड़े। इसलिये आप उनके कार्यों में अन्तराय उपस्थित न करें। उन सर्वत्यागी वीतरागी महानुभावों के मार्ग में रोड़े न अटकावें। उन्हें अपना कार्य करने दें, आप अपना कार्य करें। फिर आप उन्हें अब लौटाकर ला भी नहीं सकते। आज से पाँचवें दिन तो वे अपने शरीर को ही त्याग देंगे।"

धर्मराज ने पूछा—"महाराज! वे शरीर कैसे त्याग करेंगे? वहाँ उनकी दाह क्रिया कैसे होगी?"

नारदजी बोले—"तुम्हें दाह की ही चिन्ता है! अरे, इस नश्वर शरीर का चाहे दाह हुआ, चाहे जल-जन्तुओं, गृद्ध, चीलों ने नोच खाया अथवा सड़कर-कीड़े पड़कर-पृथ्वी में मिल गया—कुछ भी क्यों न हो, ज्ञानी को इसकी चिन्ता नहीं रहती। तुम्हारे ताऊ के शरीर को तो स्वयं अपने आप वन में लगी हुई दावाग्नि जलाकर भस्म कर देगी। तुम्हारी ताई जब कुटी के द्वार पर ही खड़े होकर इस दृश्य को देखेगी, तो वह भी शीघ्र ही कुटी में प्रवेश करके पति के साथ ही निज शरीर को जला देगी।"

धर्मराज बोले—"प्रभो! चाचा विदुरजी भी जल जायँगे?"

नारदजी बोले—"नहीं, उनकी पहिले ही इच्छा प्रभासक्षेत्र में देह त्याग करने की थी। अतः वे अपने भाई भाभी की सद्गति से हर्षित होकर और उनके वियोग दुःख से दुखी होकर तीर्थ—

यात्रा को पुनः चल पड़ेंगे। फिर से पुण्य क्षेत्रों के दर्शन करते हुए प्रभासक्षेत्र में आकर, अपने इस नश्वर पाञ्च-भौतिक देह को छोड़

कर पुनः अपने धर्मराज के पद पर प्रतिष्ठित होकर, जीवों के पाप-पुण्यों का निर्णय करने लगेंगे। यही सब समाचार है,

तुम्हारे सगे सम्बन्धियों का। अतः आप उनके लिये शोक न करें, अपनी चिन्ता करें धर्मराज !"

इस प्रकार धर्मराज को भाँति-भाँति से उपदेश देकर और धृतराष्ट्र आदि सभी की अन्तिम गति बताकर, देवर्षियों में श्रेष्ठ भगवान् नारदजी अपने प्रिय सखा तुम्बुरु के साथ, हरिगुन गाते, वीणा बजाते, दुख में पड़े हुए प्राणियों को प्राण पीयूष पिलाते, सुमधुर त्रैलोक्य पावन भगवन्नामों को सुनाते हुए स्वर्ग की ओर चले गये। इधर धर्मराज भी सब समाचार सुनकर, तथा नारदजी के उपदेश को स्मरण करके अपने ताऊ, ताई तथा चाचा की ओर से निश्चिंत हो गये।"

छप्पय

नित्य नियम अनुसार युधिष्ठिर गुरु वन्दनकूँ।
आये, देखे नहीं, विदुर अरु कुरुनन्दनकूँ ॥
सुनि सञ्जयतैं वृत्त बहुत रोये पछिताये।
आये नारद समाचार सब सत्य सुनाये ॥
ताऊ, ताई तब चचा, सत सोत सब जायँगे।
पाप पुण्य तें पृथक हैं, पुण्य परम पद पायँगे ॥

विपरीत धर्मों को देखकर धर्मराज की चिन्ता

[४७]

पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् ।
दारुणान् शंसतोऽदूरात् भयं नो बुद्धिमोहनम् ॥*
(श्री भा० १ स्क० १४ अ० १० श्लो०)

छप्पय

कहें युधिष्ठर, भीम ! भयानक काल भयो है।
आयो अर्जुन नहीं, द्वारिका माँहि गयो है॥
भये धर्म विपरीत रीति कुलकी सब त्यागें।
जाइँ पुत्र, परलोक पिता-माता के आगे॥
पिता-पुत्र, भाई सगे, पति पत्नी में कलह नित।
असगुन नित नूतन निरखि, चञ्चल होवे मोर चित॥

यह संसार परिवर्तनशील है। इसमें जो वस्तुएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे उसी रूप में सत्य नहीं। सभी असार, नाशवान् और क्षणभंगुर हैं, इन सबमें जो समान रूप से व्याप्त भगवान्

---

* धर्मराज युधिष्ठिर अपने छोटे भाई भीमकर्मा के भीम से कहते हैं—"हे पुरुष सिंह! तुम इन आधिदैविक, आधि भौतिक और आध्यात्मिक भयङ्कर उत्पात की ओर तो देखो। ये सब उत्पात निकट भविष्य में आने वाले किसी ऐसे भय के सूचक हैं, जो कि हमारी बुद्धि को विमोहित करने वाला होगा।"

की सत्ता है वही सत्य है। इस रोग शोक, चिन्ता और व्याकुलता के निलय रूप संसार की रचना प्रभु क्यों करते हैं? सभी ने इसका एक ही उत्तर दिया—"खेल के लिये, विनोद के लिये, चित्त बहलाने के लिये। मान लिया मनोरञ्जन ही है, फिर इसमें दैत्य, दानव, अधर्म, पाप से वीभत्स दृश्य क्यों? यह भी मनोरञ्जन ही है। मीठा खाते-खाते जब ऊब जाते हैं, तो चरपरी चटनी, तीखी मिरचा और कड़वी कसैली चीजों से रुचि बदलते हैं। न धर्म प्रभु की इच्छा बिना प्रवृत्त होता है, न अधर्म। दोनों ही प्रभु के अङ्ग हैं। धर्म उत्तमांग हृदय है, अधर्म पृष्ठ भाग है, किन्तु शरीर रक्षा के लिये तो उत्तम अधम सभी अंगों की आवश्यकता रहती है। जिन द्वारों से सदा घृणित दुर्गन्ध युक्त मलस्राव होता रहता है, उन मल द्वारों को आप उत्तम न समझें, किन्तु यदि आप चाहें कि इन द्वारों को शरीर से पृथक् कर दें, तो असम्भव है। उनके बिना शरीर की स्थिति ही नहीं। मल के आधार पर ही तो यह शरीर रुका है। इसी प्रकार संसार में धर्म-अधर्म सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। किन्तु धर्म ग्राह्य है, अधर्म त्याज्य है।

काल रूप प्रभु सदा क्षण-क्षण में अपना नूतन रूप धारण करते रहते हैं। वे कभी भी एक दशा में नहीं रहते। उनकी गति दुर्निवार है। उसे कोई टाल नहीं सकता। आप चाहें, कि आज रविवार न होकर शनिवार हो जाय, यह असम्भव है। आप कितना भी प्रयत्न करें अमावस्या के दिन पूर्णिमा नहीं हो सकती, उस दिन लाख प्रयत्न करने पर भी आप पूर्ण चन्द्र के दर्शन नहीं कर सकते। ज्येष्ठ के महीने में आप माघ की-सी सरदी चाहें तो सर्वत्र कभी नहीं हो सकती। हाँ व्यक्तिगत रूप से आप अपने आवास में हिमखण्ड रखकर उस एक ही भवन को शीतल बना सकते हैं। सबका समय होता है। सतयुग के

पश्चात् त्रेता, त्रेता के पश्चात् द्वापर, और द्वापर के पश्चात् कलियुग आता ही रहता है। उसे कोई टाल नहीं सकता। श्रीहरि का विधान है। उसका निवारण मानवीय शक्ति के बाहर की बात है। वे बन्धु दया के पात्र हैं। "मैं अपने पुरुपार्थ से यह कर डालूँगा, वह कर डालूँगा, ऐसे नियम विधान बनाऊँगा, जो कभी व्यर्थ न हों, सदा निर्दोष बने रहें।" अरे भैया, क्या तुम नियम बनाओगे ? काल के नियम के सम्मुख तुम्हारे मनमाने नियम को कौन मानेगा ? राम, कृष्ण आदि अवतारियों की बनाई मर्यादा भी जब काल पाकर शिथिल हो गई, तो तुम्हारे जैसे अल्पज्ञ प्राणियों की तो बात ही क्या, किन्तु वे भी ऐसा कहने को विवश हैं।

पाण्डव सुख से राज-काज करने लगे। उन्हें राज्य करते-करते ३६ वर्ष व्यतीत हो गये। वे बहुत से व्यावहारिक व्यापारों में फँसे रहने के कारण काल को भूल-से गये थे, किन्तु अप्रमत्त काल उँगलियों को शीघ्रता से चलाते-चलाते दिन गिन रहा था। अर्जुन तो भगवान् के अभिन्न हृदय ही थे। सहसा उन्हें भान हुआ, कि अरे, जप करने वाले की गणना करने वाली माला तो पूरी होने वाली है, उसकी उँगली सुमेरु के समीप पहुँचने ही वाली है। यह सोचकर अर्जुन ने धर्मराज से प्रार्थना की—"महाराज ! चिरकाल से श्यामसुन्दर का कुछ समाचार नहीं मिला। मेरे मन में भाँति-भाँति की शङ्कायें हो रही हैं, चित्त में कुछ अनिष्ट की-सी आशंका उठ रही है। यदि आपकी आज्ञा हो, मैं द्वारावती में जाकर यादवेन्द्र श्री श्यामसुन्दर के सभी समाचार ले आऊँ। मेरा मन उनके चरणों के दर्शन करने के निमित्त बहुत ही व्यग्र हो रहा है।"

धर्मराज को भी तो यही अभीष्ट था, उन्हें भी भगवान्

वासुदेव की चेष्टाओं को जानने की जिज्ञासा थी कि अब वे कौन-सी नूतन लीला करना चाहते हैं ?

अर्जुन की बात सुनकर धर्मराज ने आज्ञा देते हुए कहा—"अर्जुन ! भैया, तुमने यह बात तो मेरे मन की ही कह दी। मैं भी श्रीदेवकीनन्दन के समाचार सुनने को अत्यधिक उत्सुक हूँ।

मैं सोचता था तुम्हें भेजूँ, किन्तु भ्रातृस्नेह वश तुम्हें अपनी आँखों से पृथक करने को हृदय नहीं चाहता। अब जब तुमने ही यह प्रस्ताव किया, तो भैया तुम अवश्य जाओ और शीघ्र ही सब समाचार लेकर लौट आओ। देखना भैया, वहाँ विलम्ब मत करना। जब तुम भगवान् के समीप जाते हो तो ऐसे घुल-मिल जाते हो, कि हमें भूल ही जाते हो। ऐसा मत करना अच्छा जाओ!" इस प्रकार धर्मराज की आज्ञा पाकर, अपने सभी सगे सम्बन्धियों की अनुमति लेकर, सबसे प्रेम-पूर्वक मिल-जुलकर, सूक्ष्म-सी सेना के साथ कुन्तीनन्दन अर्जुन द्वारका के लिये चले गये। हस्तिनापुर में नित्य ही उनकी प्रतीक्षा होती, किन्तु सात महीने हो गये, वे लौटे नहीं। इसी बीच में विदुर जी आये और गान्धारी धृतराष्ट्र को लेकर चले गये, नारदजी आये और ज्ञानोपदेश करके लौट गये।

धर्मराज का चित्त अब कुछ चञ्चल होने लगा। उन्होंने, बहुत-सी धर्म के विपरीत ऐसी नई-नई बातें देखीं, जो पहिले कभी देखने में आई नहीं। बहुत से ऐसे अशुभ उत्पात देखे जो इसके पूर्व कभी नहीं हुए थे। इन सब अनहोनी घटनाओं को देखकर वे बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने एक दिन अपने तीनों भाइयों को और ऋषि मुनियों को बुलाकर अपनी चिन्ता का कारण सुनाया।

छोटे भाइयों ने अपने बड़े भाई धर्मराज को जब इस प्रकार चिन्तित देखा तो वे बोले—"प्रभो! आप इतने चिन्तित क्यों होते हैं? संसार में तो सुख-दुख, शुभ-अशुभ लगा ही रहता है।"

धर्मराज ने अत्यन्त गम्भीर होकर कहना आरम्भ किया—"भाइयो! तुमको अभी ज्ञान नहीं है। अब कोई घोर समय

आने वाला है। इसके लक्षण मुझे प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे हैं। मालूम होता है, कि अब तो कलियुग आ गया या अत्यन्त निकट भविष्य में आने वाला है। ऐसी-ऐसी अनहोनी बातें हो रही हैं, जिनकी कभी स्वप्न में भी सम्भावना नहीं थी। सर्वत्र कलह का साम्राज्य छा गया है। पिता पुत्र में, भाई-भाई में, मित्र-मित्र में, सम्बन्धी-सम्बन्धी में, पति-पत्नी में जिधर देखो उधर ही मानों मालिन्य के से लक्षण दिखाई देते हैं। लोगों में लोभ की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इससे ज्ञात होता है अधर्म का बन्धु दुष्ट कलियुग का मेरे राज्य में प्रवेश हो गया।"

भाइयों ने पूछा—"प्रभो! आपको किस प्रकार ज्ञात हुआ? आप तो मूर्तिमान् धर्म हैं, आपके रहते कलियुग ऐसा साहस कैसे कर सकता है, कि बिना आपके पूछे आपके राज्य में पैर रख सके।"

धर्मराज बड़े दुखी हुए और बोले—"भाइयो! काल की दुर्निवार गति को श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई भी हटाने में समर्थ नहीं। यद्यपि कलियुग नियमानुसार बहुत दिनों का आ गया था, किन्तु जो अवनि श्रीकृष्ण पद चिन्हों से अङ्कित है, उसमें कलियुग के पैर कैसे जम सकते हैं, इसलिये कलियुग अपना कुछ प्रभाव नहीं दिखा सका। अब मैं देख रहा हूँ कि लोगों की जो धर्म में प्रवृत्ति थी वह स्वाभाविक बदलती हुई दिखाई दे रही है। काल की गति विकराल बन रही है। ऋतुओं के धर्म विपरीत हो गये हैं। वर्षा के समय वर्षा नहीं होती, जब वर्षा की आवश्यकता नहीं होती, तब कृषि को नष्ट करने को असमय में पानी बरसता है। लोग क्रोधी, लोभी और असत्य बोलने वाले हो गये हैं। इन सब बातों से मुझे निश्चित हो गया कि कलियुग कोई न कोई छिद्र देखकर पृथ्वी पर अपने पैर फैलाने का उद्योग कर रहा है।

"जब श्रीकृष्ण यहीं थे, तब मेरे सम्मुख एक अभियोग आया। एक व्यक्ति ने दूसरे के हाथों अपना एक प्राचीन घर बेचा था। जिस व्यक्ति ने उसे लिया था, वह नूतन गृह बनाने के निमित्त उसकी नींव खोद रहा था। नींव खोदते समय उसे सुवर्ण की मुद्राओं से भरा हुआ एक कलश मिला। वह व्यक्ति उस मुद्रा भरे कलश को लेकर घर के पूर्व स्वामी के समीप गया, और बोला—"बन्धुवर! आपके भवन में यह सुवर्ण मुद्राओं से भरा हुआ कलश निकला है, इसे आप ग्रहण कीजिये।"

"सर्प की भाँति उस सुवर्ण की मुद्राओं से भरे घड़े से डरता हुआ, बिना ही स्पर्श किये, वह भूतपूर्व गृह स्वामी बोला—"महानुभाव! आप यह कैसी अधर्म की बातें कर रहे हैं? जब मैंने गृह द्रव्य लेकर आपके हाथों विक्रय कर दिया, तो अब उसमें चाहे सुवर्ण निकले या कोयले निकलें, सभी के स्वामी आप हैं। मैं इन सुवर्ण मुद्राओं को नहीं ले सकता। आप जैसे चाहें इनका उपयोग करें।"

यह सुनकर वह क्रय करने वाला व्यक्ति बोला—"देखिये, बन्धुवर! आप मुझे लोभ में फँसाकर मेरा परलोक न बिगाड़िये। आपने मुझे गृह बेचा था, न कि ये सुवर्ण की मुद्रायें जो आपके पूर्वजों ने गाड़ी थीं। भूल से आपको उनका पता नहीं था। यदि पता होता तो आप इतने अल्प द्रव्य पर इन्हें कभी न बेचते। मैंने जो द्रव्य दिया, भूमि और घर का दिया है। इसलिये इन मुद्राओं पर मेरा किसी भी प्रकार अधिकार नहीं है। मैं इन्हें लेकर पाप का भागी नहीं बनूँगा।"

"इस पर घर के पूर्व स्वामी ने कहा—"मैं तो पृथ्वी बेच चुका, उस पर न अब मेरा अधिकार रहा, न मेरे पूर्वजों का। मान लीजिये उसके नीचे बिच्छू निकलते, तो क्या आप उन्हें मेरे घर में छोड़ जाते। या मान लो मेरा कोई पूर्वज

वहाँ प्रेत बनकर रहता होता, तो क्या आप उस प्रेत को मेरे घर में छोड़ते। घर की वस्तुओं की गणना करके तो मैंने बेची नहीं। सबका सब घर बेचा था, उसमें जो भी निकले सब आपका।"

इस प्रकार दोनों वाद-विवाद करते रहे। उस सुवर्ण की मुद्राओं से भरे कलश को कोई भी नहीं लेता था। विवाद बढ़ते-बढ़ते मेरे सम्मुख आया। दोनों ने अपनी-अपनी बात की पुष्टि में भाँति-भाँति के प्रमाण दिये। मैं सुनकर किंकर्तव्य-विमूढ़ बन गया, कि अब इसका क्या निर्णय करूँ। जब मैं कुछ भी निश्चय न कर सका, तो मैंने भगवान् से पूछा—"प्रभो! इसका क्या निर्णय करूँ? सुवर्ण की मुद्रा के कलश को किसे दिला दूँ?"

मेरी बात सुनकर श्री भगवान् हँसे और बोले—"धर्मराज! आप किसी को भी न दिलाइये। इसे अपने पास ही न्याय रूप में रख लीजिये। कुछ काल के पश्चात् कलियुग आवेगा। तब इन लोगों के मन में लोभ उत्पन्न हो जायगा। उस समय जो माँगने आवे उसे दे देना।"

"भगवान् की यह बात मानकर, उन दोनों से कह दिया—"अच्छी बात है' तुम लोग जाओ। यह न्याय रूप में मेरे पास रहेगा। तुम सोच समझकर फिर मेरे पास आना। जो इसे अपना मानेगा उसे मिल जायगा। इतना सुनते ही वे दोनों बड़ी प्रसन्नता से चले गये, मानों उनके सिर से कोई बोझ उतर गया।"

"अब वे लोग कल दोनों मेरे पास आये और परस्पर में लड़ते हुए दोनों कहने लगे—"कलश पर मेरा अधिकार है, मुझे मिलना चाहिये, मुझे मिलना चाहिये।" यही नहीं, दोनों अपने-अपने साथ विधान विशारद (वकील) को भी प्रतिनिधि रूप में

अपना पक्ष प्रबल करने को लाये। इसी से मैं समझ गया, कि कलियुग आ गया।

मेरे सेवक सेवा करने में प्रमाद करने लगे। एक दिन मैंने प्रधान न्यायाधीश को बुलाकर उससे कहा—"अब तुम्हारे पास कैसे-कैसे अभियोग आते हैं।"

उसने कहा—"प्रभो! अभियोग तो अब बहुत आने लगे और कुछ लोग झूठ भी बोलने लगे हैं।"

मैंने व्यग्रता के साथ कहा—"झूठ बोलने से तो मुझे बड़ी चिढ़ है। श्रीकृष्ण की आज्ञा से एक बार मैंने अर्ध झूठ बोला था, उसी की मुझे अब तक ग्लानि बनी हुई है। तुम अब अभियोगों की सूची रखा करो।"

न्यायाधीश ने कहा—"प्रभो! पापों की सूची रखना, यही कलियुग का चिन्ह है। आप ऐसी आज्ञा क्यों देते हैं?"

मैंने कहा—"भैया! चाहे कुछ भी हो, मैं सूची अवश्य देखा करूँगा।"

उसने मेरी आज्ञा से सूची रखना आरम्भ कर दिया। पहिले दो-चार न्यायाधीश थे। अब सैकड़ों रखने पर भी पूरे अभियोगों का निर्णय नहीं हो पाता। एक दिन मैंने सूची देखी। उसमें ऐसे-ऐसे अभियोग लिखे मिले, जिन पर मुझे विश्वास ही न हुआ। मैंने उन वादी प्रतिवादियों को बुलाकर पूछा—"क्यों भाई, तुम ऐसा पाप करते हो?" उन्होंने स्पष्ट कहा—"नहीं, महाराज! हमने ऐसा नहीं किया।" मैंने न्यायाधीश से पूछा—"भाई ये लोग तो मना कर रहे हैं, तुमने यह अभियोग कहाँ से लिख लिया?" उसने कहा—"अन्नदाता! मैंने तो इन लोगों से पूछकर ही लिखा है। अब ये लोग आपके सामने असत्य बोल रहे हैं।" तब मैंने कहा—"अच्छा, सबके हस्ताक्षर लिया करो। साक्षियों के भी हस्ताक्षर कराया करो।"

मेरी बात सुनकर न्यायाधीश ने कहा—"प्रभो! आप ऐसी आज्ञा न दें। बात-बात पर हस्ताक्षर कराना यह प्रत्यक्ष सबके ऊपर अविश्वास प्रकट करना है और अविश्वास की कलह का मूल है।" मैंने कहा—"भाई, हमें कैसे पता लगेगा कि इसने कहा। तुम अवश्य सबके हस्ताक्षर कराया करो।" तब से अभियोगों की हस्ताक्षर सहित सूची रहने लगी। उनमें मुझे आजकल सर्वत्र कलियुग की झलक आती है।

मैंने देखा मेरे कर्मचारी, अधिकारी जो पहिले अपना कर्तव्य समझकर धर्म पूर्वक अपने-अपने कार्यों को करते थे, वे अब प्रमाद करने लगे हैं। तब मैंने मन्त्री से कहा—"इन कर्मचारी और अधिकारियों के निरीक्षण के लिये कुछ वैतनिक निरीक्षक भी रख लो।"

मन्त्री ने कहा—"प्रभो! यह धर्म के विरुद्ध है। एक बार विश्वास करके जिसे जो कार्य दिया गया, उसके ऊपर अनुमान से ही अविश्वास करना, उसके सिर पर निरीक्षक नियुक्त कर देना, उसे बलात् प्रमाद में प्रवृत्त करने के लिये विवश करना है। अब जो लोग धर्म के भय से करते हैं, फिर निरीक्षक के भय से करेंगे। निरीक्षक अकारण उनके प्रत्येक कार्य की समीक्षा करेगा, अतः वे लोग निरीक्षक से बचने को झूठ बोलेंगे। पाप को छिपाने को अनेक नये पाप करेंगे।"

मैंने कहा—"कुछ भी क्यों न हो, आज एक प्रमाद करता है, कल दूसरा भी कर सकता है। अतः निरीक्षक अवश्य नियुक्त करो।" मेरी बात मानकर मन्त्री ने वैतनिक निरीक्षक समीक्षक नियुक्त किये। कुछ दिन तो वे कार्य करते रहे, अन्त में वे भी प्रमाद करने लगे। अतः निरीक्षकों के काम के निरीक्षण के लिये भी और निरीक्षक नियुक्त करने पड़े। इतने पर भी लोग सत्य धर्मपूर्वक कार्य नहीं करते।

एक दिन मैंने देखा एक ब्राह्मण घी, दूध, बेच रहा है, मैंने उसे बुलाकर कहा—"ब्राह्मण देवता ! यह तुम क्या पाप कर रहे हो ? घी, दूध, चीनी, तेल आदि रसों का बेचना द्विजों के लिये निषिद्ध है। तुमने यह नीच वृत्ति क्यों धारण की ?"

उसने दीनता से कहा—"क्या करें, धर्मावतार ! पेट ही नहीं भरता। इस पापी के लिये सब कुछ करना पड़ता है।"

मैंने धनाध्यक्ष से कहकर उसको यथेष्ट द्रव्य दिलाया और ऐसा करने से निषेध कर दिया। उसने तो मान लिया, किन्तु अन्य वर्ण वालों में भी सुना गया है, वृत्ति सांकर्य हो गया है।

लोगों का परस्पर का व्यवहार कुटिलता पूर्ण हो गया है। एक दूसरे पर अविश्वास करने लगे हैं। एक दिन एक लुहार के पास मैंने एक विचित्र यन्त्र-सा देखा। मैंने उसे कभी देखा ही नहीं था, उसे बुलाकर मैंने पूछा—"भाई, यह क्या वस्तु है ? और इसका किस प्रकार उपयोग होता है ?"

उसने बताया—"अन्नदाता ! एक दिन मैं स्नान करने गया पता नहीं कौन मेरे एक पात्र को उठा ले गया। इसीलिये मैंने अपनी बुद्धि से यह यन्त्र बना लिया है। इसका नाम ताला है। किवाड़ों में सँकड़ी लगाकर कुण्डे में इसे डाल देने से कोई खोल न सकेगा। इसकी ताली मेरे पास रहेगी, उसी से मैं खोल लिया करूँगा।" यह सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने उससे कहा—"देखो, घर में ताला लगाना यह सबके ऊपर अविश्वास प्रकट करना है। तुम्हारी वस्तु की रक्षा हम करेंगे। इसे तोड़कर फेंक दो, आगे ऐसा मत बनाना।" उसने उसे उसी समय तोड़ कर फेंक दिया, किन्तु उसके मन में तो इसके संस्कार जम ही गये। आज नहीं कल फिर बना लेगा।

एक दिन मैं गङ्गाजी से आ रहा था, एक कृषक को मैंने खेत से अपने कन्धे पर अपने घर को हल ले जाते हुए देखा। मैंने रथ

खड़ा करा करके, उसे बुलाकर पूछा—"क्यों भाई, तुम इतना श्रम क्यों करते हो ? हल को घर क्यों ले जाते हो ? खेत पर क्यों नहीं पड़ा रहने देते ?"

उसने हाथ जोड़कर कहा—"धर्मावतार ! सदा से हल खेत पर ही पड़ा रहता था, कोई भी किसान उसे उठाकर घर नहीं लाता था, किन्तु एक दिन मेरा हल मिला नहीं, कोई उठा ले गया। मैं निर्धन किसान हूँ, इसी से इतना कष्ट करता हूँ, कि नित्य घर ले जाता हूँ और नित्य इसे उठाकर फिर खेत पर लाता हूँ।"

इस पर मुझे बड़ा दुःख हुआ, कि मेरे राज्य में किसान अब अविश्वास और चोरी के भय से नित्य हल घर लाया करेंगे क्या ? मैंने आज्ञा दी—"तुम्हारे हल की रक्षा का भार राज्य पर रहेगा। तुम लोगों को हल घर ले जाने की आवश्यकता नहीं। उसी समय मैंने समस्त ग्रामों के पञ्चों के पास सम्वाद भिजवाया कि जो कोई किसी का हल उठावेगा उसे प्राण दंड दिया जायगा। जो किसान सरल सीधे समझे जाते थे, उनमें भी ऐसे व्यवहार होने आरम्भ हो गये हैं।

एक दिन मैंने बड़ा आश्चर्य देखा। एक मण्डलीक राजा को मैंने लोहे के एक यन्त्र पर आकाश में उड़ते देखा। मैंने उसे बुलवा कर पूछा—"भाई, तुमने किस देवता की अराधना करके यह कामग विमान प्राप्त किया है ?"

उसने कुछ डरते-डरते लज्जा के भाव से कहा—"प्रभो ! यह कामग विमान नहीं है। इसे तो मेरे राज्य के एक शिल्पी ने बनाया है। यह अग्नि और जल की सहायता से वाष्प के द्वारा चलता है। कोई स्निग्ध पदार्थ रख देते हैं, उसी की सहायता से यह चलाने से चलता है। संकल्प या इच्छा से देवताओं के विमानों के सदृश नहीं जाता।"

मैंने कहा —"तब इस पर तो सभी अधिकारी अनाधिकारी चढ़कर पाप का प्रचार करेंगे ?"

उसने भयभीत होकर कहा—"धर्मावतार ! इसके द्वारा धर्म का भी प्रचार हो सकता है।"

मैंने कहा—"धार्मिक लोगों में तेज से ही इतनी सामर्थ्य होती है, कि वे जहाँ चाहें वहाँ से अपने भावों को भेज सकते हैं। ऐसे यन्त्र तो अल्प शक्ति वाले असमर्थ, पाप परायण, दैव सम्पत्ति से हीन, प्रत्येक कार्य में शीघ्रता करने वाले लोग निर्माण करते हैं। उनकी दृष्टि रहती है प्रत्येक कार्य शीघ्र से शीघ्र हो।" मैं उससे इतना कह ही रहा था, कि इतने में ही भगवान् व्यास आ गये। मैंने उठकर उनकी विधिवत् पूजा की और यह वृत्तान्त निवेदन करके पूछा—"प्रभो ! इस मंडलीक राजा ने ऐसा अपने किसी शिल्पी की सहायता से कल यन्त्र बनाया है, जिससे कलियुगी भावों का शीघ्र प्रचार हो सके। आज्ञा कीजिये, इसे क्या दण्ड दिया जाय ?" भगवान् व्यास हँसते हुए बोले—"राजन् ! इसे कुछ भी दंड मत दो। मैं इसे समझाये देता हूँ। आप इसे नष्ट करा दें। वही दण्ड पर्याप्त है। मुझसे इतना कहकर भगवान् व्यास देव उस राजा को समझाने लगे—"देखो, भैया ! धर्मराज के शासन में ऐसा करना उचित नहीं। यह तो आज से दो ढाई हजार वर्ष के पश्चात् कुछ बौद्ध कहलाने वाले नास्तिकों का जब शासन होगा, तब ऐसे यन्त्रों का निर्माण होगा और वे पारद के द्वारा चलाये जायँगे। पाँच हजार वर्ष के पश्चात् तो इनका घर-घर में प्रचार हो जायगा। उस समय काले गोरे दस्यु ही शासन करेंगे। तब इन यन्त्रों के द्वारा असत्य, अधर्म और कलह का प्रचार किया जायगा। अभी समय नहीं है।" इतना समझा कर भगवान् व्यास ने उस यन्त्र को अपने सम्मुख ही नष्ट करा दिया।

इसके अनन्तर भगवान् व्यास मुझसे कहने लगे—"राजन्! अभी तुम क्या दिखा रहे हो? आज से पाँच हजार वर्ष के पश्चात् लोगों की वर्णाश्रम धर्म में आस्था न रहेगी। अध्ययन में गुरु शिष्य प्रथा नष्ट हो जायगी। शूद्र और अन्त्यज उच्च वर्णों का कार्य करने लगेंगे। उच्च वर्णों के लोग अन्त्यजों के साथ सह भोज, सह विवाह करने में अपना बड़ा गौरव समझेंगे। सदाचार संस्कृति का ह्रास हो जायगा। सन्ध्या-वन्दन, देव, ऋषि पितृ श्राद्ध तर्पण, पूजा, पाठ सभी की हँसी उड़ाई जायगी। स्वेच्छा चार ही श्रेष्ठ धर्म समझा जायगा। सभी लोग सभी वृत्तियों को स्वीकार करके द्रव्य उपार्जन करने लगेंगे। दस्यु धर्मी, विधर्मी राजा बनेंगे। राजा व्यापार करने लगेंगे। स्त्रियाँ लज्जाहीन हो जायँगी। कुलीन स्त्रियाँ एक वस्त्र से, अपने आधे अङ्गों को खोले हुए, निर्लज्ज होकर पुरुषों के साथ पथों पर, वाटिकाओं में घूमेंगी। कन्या कोई न रह जायगी। अविवाहिता, विवाहिता, विधवा सभी एक-सी हो जायँगी। कोई सौभाग्य चिह्न आभूषणों को धारण न करेंगी। श्री और कान्ति से हीन, वस्त्र आभूषण रहित हाथ पैरों को विधवाओं की भाँति दिखाती फिरेंगी। एक दो नहीं, घर-घर भ्रूण हत्याएँ होंगी। कुमारियों और विधवाओं से उत्पन्न, अधर्म सन्तानों की ही संख्या बढ़ जायगी, वे पापाचरण में प्रवृत्त होंगे। कुलीन महिलाओं और वेश्याओं के वेष, भूषा, आचरण, व्यवहार में कोई अन्तर न रह जायगा। दाम्पत्य भाव नष्ट हो जायगा। स्त्रियाँ, पुरुषों से पृथक् अपनी सत्ता स्थापित करके पुरुषों के साथ संघर्ष करेंगी। पापाचरण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ जायगी कि बहुत-सी कामिनी यथेच्छ स्वेच्छाचरण करने के निमित्त और प्रसव पीड़ा से बचने के निमित्त शल्य शास्त्र की सहायता से, अपने गर्भाशय को ही निकलवा दिया करेंगी।"

यह सुनकर मैंने अपने कानों पर हाथ रखते हुए कहा—

प्रभो ! वे मानुषी स्त्रियाँ होंगी या राक्षसी ?"

भगवान् व्यास बोले—"ऊपर से देखने में तो वे मानवी जान पड़ेंगी। उनकी आकृति मानवी होगी, देखने में भी सुन्दर होंगी, किन्तु वास्तव में वे राक्षसी ही की योनि में जन्म लेंगी।"

मैंने भगवान् कृष्णद्वैपायन के पैर पकड़ते हुए कहा—"प्रभो ! मुझे यह समय न देखना पड़े। ये सब पाप मेरे सामने न हों। एक वरदान आप मुझे और दें, मैंने भगवान से भी माँगा है। पाँच हजार वर्ष तक कलियुग के पैर इस धराधाम पर न जमने पावें।"

व्यासजी ने प्रसन्न होकर कहा—"धर्मराज ! तुम्हें ये घृणित पापाचरणपूर्ण कार्य न देखने पड़ेंगे और मेरे आशीर्वाद से पाँच हजार वर्ष तक कलियुग का उतना प्रभाव न होगा। पाँच हजार वर्ष के पश्चात् तो कलियुग अपना प्रभाव दिखाने लगेगा ही।" इतना कहकर भगवान् व्यास चले गये।

कल मैंने एक आश्चर्य देखा। एक कुलीन घर की महिला एक वस्त्र से अर्ध नग्न निर्लज्ज होकर सबके सामने हँसती खेलती सड़क से जा रही है। मुझे देखकर भी लज्जित न हुई। जब मैं महल में आया,तो देखा–एक स्त्री बड़े सुन्दर वस्त्राभूषण पहिने,अनेक सुगन्धित द्रव्य लगाये खड़ी है। मुझे देखकर वह लज्जित होकर हट गई। मैंने बूढ़ी दासी से पूछा–"यह कौन थी ?" उसने बताया–"यह दुर्योधन के सबसे छोटे भाई की विधवा स्त्री थी, यह सुनकर मेरे ऊपर मानों किसी ने वज्र गिरा दिया। मैं समझ गया। कलियुग ने मेरे राज्य में ही प्रवेश नहीं किया, वह मेरे घर में भी घुस आया। अब भैया ! यह संसार रहने योग्य नहीं है। अब हम सबके ऊपर बड़ा भारी अनिष्ट आने वाला है। आजकल मुझे बड़े बुरे-बुरे अपशकुन भी दिखाई देते हैं। उन्हें मैं अब आगे आप सबके सामने प्रकट करूँगा।"

एक घटना मुझे और भी याद आ गई। उससे भी मैं समझता हूँ कि संभव है, भगवान् इस अवनि को त्याग कर गये या त्यागने वाले हैं तभी तो कलिकाल का चारों ओर प्रभाव फैल रहा है।

(२)

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के न आने पर धर्मराज अपने भाई भीम से तथा अन्य अपने आत्मीयों से कह रहे हैं—"अर्जुन के न आने का कारण मैं नहीं समझता। इधर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कलिकाल ने अब अपना अधिकार सर्वत्र जमा लिया। अब हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये क्योंकि अब तो कलियुग के ही शासन का समय है। इसके प्रत्यक्ष चिन्ह दिखाई देते हैं। कलियुग ने एक दिन आकर मुझसे कहा भी था कि महाराज! अब मेरा समय आ गया है। आपको अब सिंहासन त्याग देना चाहिये।"

इस पर कुतूहल वश एक आत्मीय ने पूछा—"देव! आप तो धर्मावतार हैं, कलियुग से आपकी भेंट कहाँ हो गई? कलियुग का ऐसा साहस कैसे हो गया, कि वह आपके सम्मुख आ सका।"

इस प्रश्न को सुनकर सबको सुनाते हुए धर्मराज कहने लगे—"भैया! एक दिन ये मेरे भीम, अर्जुन, नकुल, और सहदेव चारों भाई साथ ही सभा में प्रवेश कर रहे थे, तभी इन्होंने द्वार पर एक मनुष्य को देखा। उसके पास एक सर्व सुन्दर लक्षणों वाला अत्यन्त ही शीघ्रगामी एक घोड़ा था। उस अद्वितीय घोड़े को देखकर मेरे चारों भाई उस पर मुग्ध हो गये। उन्होंने जाकर उस व्यक्ति से पूछा—"क्यों भाई! घोड़ा बेचोगे?"

उसने नम्रता के साथ कहा—"महाराज! मैं तो बेचने के लिये ही लाया हूँ।"

इस पर मेरे अनुजों ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छी बात है, भैया! तुम इसे अभी हमारी अश्वशाला में बाँध आओ और जितने चाहो, रुपये ले जाओ।"

उस व्यक्ति ने कहा—"महाराज कुमारो! आपके यहाँ धन की तो कुछ कमी ही नहीं है। मुझे भी धन की कोई इच्छा नहीं। मैं आप चारों से प्रश्न पूछता हूँ। यदि आप उन चारों का उत्तर दे सकें, तब तो घोड़ा आपका है। मैं उसे अश्वशाला में बाँध दूँगा यदि आप पर उन प्रश्नों का उत्तर न दिया गया, तो मैं यह लकीर खींचे देता हूँ, धर्मपूर्वक आप उसके बाहर तब तक न जायँ जब तक मेरे प्रश्नों का उत्तर न मिले। "मेरे भाइयों को एक साधारण अश्वविक्रेता की ऐसी बात सुनकर बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने हँसते हुए कहा—"अच्छा भैया! पूछो, हमें तुम्हारी बात स्वीकार है।"

यह सुनकर वह प्रसन्नता पूर्वक बोला—"देखिये, मैं अपने इस अश्व को लिये हुए आ रहा था, मैंने मार्ग में एक बहुत बड़ा भयङ्कर कूप देखा। उसमें मुझे एक बड़ा भारी आश्चर्य युक्त व्यापार दिखाई दिया। उस कूप के मुख पर अधर एक पैसा लटका हुआ था, उस एक पैसे में लाखों मन लोहा अटक रहा था, फिर भी वह पैसा कूए में गिरता नहीं था, यह क्या बात है?"

मेरे चारों भाई एक दूसरे का मुख देखने लगे। किसी पर इसका उत्तर नहीं बना। तब तो उसने नम्रता पूर्वक कहा—"आप चारों भाइयों में से एक भाई मेरी इस धर्म मर्यादा के भीतर खड़े हो जायँ।" यह सुनकर भीम उसकी धर्म रेखा के भीतर खड़े हो गये। तब उसने फिर दूसरा प्रश्न पूछा—"एक दिन मैं मार्ग में आ रहा था। मार्ग में क्या देखता हूँ कि पाँच

कूए हैं। चार तो इधर उधर हैं, एक बीच में है। उन पाँचों कूओं से पानी उबलता था। जब आस-पास के कूए खाली हो जाते थे, तब बीच के कूए से पानी उबलकर चारों को भर देता था, किन्तु जब बीच का कूआं खाली हो जाता था, तब चारों मिलकर भी उसे भर नहीं सकते थे, यह क्या बात है?"

मेरे तीनों भाइयों में से किसी पर इसका उत्तर नहीं बना, तब अर्जुन उस धर्म रेखा के भीतर खड़े हो गये। तब उसने तीसरा प्रश्न पूछा। वह बोला—"एक दिन रास्ते में मैंने देखा एक गौ के बछिया पैदा हुई है। पैदा होते ही, बछिया गौ का दूध न पीकर, गौ ही बछिया का दूध पी रही है।"

यह सुनकर नकुल सहदेव एक दूसरे की ओर देखने लगे कि यह सब अद्भुत-ही-अद्भुत प्रश्न पूछता है। जब इसका भी कोई उत्तर न बना, तो नकुल उस परिधि के भीतर चले गये। फिर उसने चौथा प्रश्न पूछा।

वह कहने लगा—"एक दिन मैं मार्ग में आ रहा था। सम्मुख मैंने एक जानवर देखा। वह कई बार मुख से बुरे-बुरे शब्द करके मलद्वार से घास खाने लगा। यह क्या बात है?"

सहदेव से इसका भी कुछ उत्तर न बना। तब वे भी धर्म परिधि के भीतर खड़े हो गये।

मैं बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता रहा। चारों में से एक भी अभी तक नहीं आया, क्या बात हो गई? मैंने सेवकों को भेजा। सेवकों ने आकर मुझसे कहा—"महाराज! एक घोड़े वाला द्वार पर खड़ा है। उसी के समीप चारों कुमार खड़े हैं, भीतर आते ही नहीं।"

मुझे भी बड़ा कुतूहल हुआ। मैं उठकर बाहर आया। मैंने समझा इन लोगों को घोड़ा अच्छा लगा है, इसे लेना चाहते हैं। क्या बात है, यह देता नहीं या सौदा नहीं बना। अतः मैंने

कहा—"क्यों भाई, तुम घोड़ा बेचोगे नहीं ?"

उसने कहा—"अन्नदाता ! मैं तो बेचने के ही लिये लाया हूँ।"

मैंने कहा—"तब फिर मेरे भाई खड़े हैं ? इसे अश्वशाला में बाँध दो। जितने चाहो रुपया ले जाओ।"

उसने कहा—"अन्नदाता ! आपके यहाँ धन की क्या कमी ! यही बात मुझसे इन कुमारों ने कही थी, किन्तु धन की आवश्यकता मुझे भी नहीं। आप मेरे चार प्रश्नों का उत्तर दे दें, फिर घोड़े का मैं अश्वशाला में बाँध दूँगा "

धर्मराज ने कहा—"पूछो भैया, क्या प्रश्न हैं तुम्हारे ?"

उसने वही पहिला प्रश्न पूछा। अगाध कूप में पैसे के सहारे अधर में लाख मन लोहा लटका था—यह क्या बात है ?

मैंने उसे डाँटते हुए कहा—"तू बड़ा धूर्त है रे ! हमारे राज्य में तू कलियुग की बातें करता है। ऐसा तो कलियुग में होगा। कलियुग में और तो कुछ धर्म कर्म बनेगा नहीं, जो दयावश एक मुट्ठी अन्न किसी को दान दे देंगे, वह एक पैसे भर दान ही से लाखों मन लोहे रूपी अधर्म को लटकाये रखेंगे। जो दया दान को भी छोड़ देंगे, उस लोहे को लेकर संसार रूपी मोह कूप में गिर पड़ेंगे।"

यह सुनकर उस व्यक्ति ने पूछा—"महाराज ! बीच का एक कूआ तो आस-पास के चार खाली कूओं को भर देता है, किन्तु बीच के खाली एक कूप को चारों मिलकर भी नहीं भर सकते, यह क्या बात है ?"

मैंने उत्तेजित होकर कहा—"तू बड़ा अधर्म बन्धु है, धूर्त कहीं का ? फिर कलियुग की ही बातें मुँह से निकालता है। ऐसा तो कलियुग में होगा। पिता अपने चारों पुत्रों का पालन-पोषण करेगा, उनका पेट भरेगा, उन्हें योग्य बनायेगा, किन्तु कलियुग

पुत्र वृद्धावस्था में उनकी बात भी न पूछेंगे। सब मिलकर भी अपने माता-पिता का पेट न भर सकेंगे। उन्हें अनाथालय की शरण लेनी पड़ेगी या भूखों मरेंगे।"

यह सुनकर वह व्यक्ति बोला—"महाराज! गौ का दूध बछिया को पीना चाहिये। गौ बछिया का क्यों पी रही थी।"

मैंने उसे डाँटकर कहा—"बस, खबरदार! बहुत हो गया। मालूम होता है तू साक्षात् कलियुग ही है। अरे, धूर्त ऐसा तो कलियुगी पिता करेंगे। लड़की पैदा हुई, कि उसी के सहारे कर्ज लेना आरम्भ कर देंगे। कर्ज खाते रहेंगे, लड़की सियानी होगी तो उसे बेच देंगे, फिर दूसरी लड़की के नाम से कर्ज लेंगे। ऐसे कन्या विक्रय करने वाले नीच, अधम, पापी राक्षस पिता, कलि-काल में बहुत होंगे। ऐसी बेची हुई कन्या के जो पुत्र होंगे, वे अपने पितरों को पिंडदान देने के भी अधिकारी न होंगे। कन्या का बेचने वाला, कन्या के धन से आजीविका करने वाला, सबसे बड़ा पापी है। ऐसे पापी का मुख देखना भी घोर पाप है, कलि-युग में ऐसे ही पापी बहुत होंगे।"

यह सुनकर उसने फिर पूछा—"महाराज! भयङ्कर बुरे-बुरे शब्द करने वाला और मलद्वार से घास खाने वाला जन्तु कौन था?"

यह सुनकर मुझे बहुत क्रोध आया और मैंने खड्ग निकाल कर कहा—"अब मुझे निश्चय हो गया। तू कपट वेष बनाये साक्षात् कलियुग ही है। अरे, नीच! ऐसे कवि तो कलियुग में होंगे, जो वेद शास्त्रों को छोड़कर, इतिहास, पुराण का आश्रय त्यागकर, मनमानी ऊटपटाँग रचना करके अर्थ का अनर्थ करेंगे। अनुकूल मार्ग को छोड़कर प्रतिकूल मार्ग का आश्रय लेंगे। मुख से न खाकर अपान मार्ग से खायँगे। मैंने तेरे चारों प्रश्नों का उत्तर दिया। अब तू सच-सच बता, कि तू

कौन है ? नहीं तो तेरा सिर अभी धड़ से पृथक् करता हूँ।"

यह सुनकर वह बोला—"प्रभो! वास्तव में मैं कलियुग ही हूँ। अब मेरे राज्य होने का समय है, किन्तु जब तक आप साक्षात् धर्मावतार पृथ्वी के सम्राट् हैं, तब तक मेरी गति नहीं, मेरा अधिकार नहीं, मेरी पूछ नहीं। आप तो धर्मात्मा हैं, किसी के भाग को हड़पना नहीं चाहते। अतः अब सिंहासन मुझे मिलना चाहिये। मेरा साम्राज्य होना चाहिए।"

यह सुनकर मैंने हँसते हुए कहा—"अरे, धूर्त! मैं पहिले ही समझ गया था, कि तू अधर्म का मित्र है। मैं जानता हूँ, अब तेरे साम्राज्य का समय है, किन्तु भैया! जब तक आनन्दकन्द देवकीनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र इस अवनि पर विराजमान हैं, तब तक तो हम सिंहासन को छोड़ नहीं सकते। जब वे स्वधाम पधार जायँगे, तब हम भी हिमालय चले जायँगे। उस समय तेरी जो इच्छा हो सो करना। श्रीकृष्ण के रहते हुए तुम मेरे राज्य में बसने का विचार भी मत करना।" मेरी यह बात सुन कर कलियुग प्रसन्न होता चला गया।

सो भाइयो! आज वे सब बातें मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हैं। इससे मैं समझता हूँ, कि श्रीभगवान् इस अवनि को विधवा बनाकर स्वधाम पधार गये। श्रीकृष्ण से रहित, कलियुग से आक्रान्त यह अवनि अब रहने योग्य रही नहीं। अब तो हमें हिमालय की ओर चल देना चाहिये।"

इतना कहते-कहते धर्मराज अत्यन्त ही चिन्तातुर होकर आँसू बहाने लगे। उनका मुख मण्डल मलीन हो गया और वे अत्यन्त ही विषादयुक्त होकर लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगे।"

छप्पय

त्याग्यो सबने धर्म कर्म कछु करें न हितकर।
पालें पापी पेट पाप करि सभी नारि नर॥
करें नाहिं विश्वास परस्पर प्रेम न राखें।
तनिक द्रव्य के हेतु हाल मिथ्या सब भाखें॥
निरखि नित्य उतपात अति, मन मलीन मेरो भयो।
कपट बन्धु कलिकाल का, धराधाम पै छा गयो॥

धर्मराज द्वारा देखे गये अपशकुन

[४८]

इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥*
(श्रीभा० १ स्क० १४ अ० २०श्लोक)

छप्पय

फरके बाईं बाहु हृदय में कम्पन होवै।
करि मुँह मेरी ओर श्वान निरभय ह्वै रोवै॥
उल्लू और कपोत मृत्यु के दूत कहावें।
करकश कठिन कराल, शब्द करि हृदय लगावें॥
लीला विग्रह त्यागि का, श्याम धाम गमने कहीं।
करूँ कहा चित दुखित अति, अरजुन हू आयो नहीं॥

जैसा समय आने वाला होता है, वैसे ही आसार दिखाई देने लगते हैं। जाड़े के पश्चात् गरमी एक साथ ही नहीं आ जाती। पहिले तीक्ष्ण ठण्ड के अनन्तर शनैः-शनैः गुलाबी जाड़ा पड़ना आरम्भ होता है। दिन में कुछ उष्णता होने लगती है। इसी से लोग अनुमान लगा लेते हैं, अब जाड़ा गया, गरमी

* हे भीम ! ये समस्त देश, ग्राम, पुर, उद्यान, धातुओं की खानें और ऋषियों आदि के पुण्याश्रम श्रीहीन तथा आनन्द विहीन हो गये। ये अनेक प्रकार के भयङ्कर-भयङ्कर अपशकुन न जाने हमें आगे कौन-सा दारुण दुख दिखाने की सूचना दे रहे हैं।

आने वाली है। इसी प्रकार वर्षा के पश्चात् पहिले तनिक-तनिक ठण्ड-सी प्रतीत होने लगती है, पहिले जो धूप असह्य हो रही थी, वह कुछ अच्छी लगने लगती है, इससे सब समझ जाते हैं, अब जाड़ा आने वाला है। इसी प्रकार शुभ शकुन और अपशकुनों के द्वारा शुभाशुभ का अनुमान लगाया जाता है। शुभ कार्य होने वाला होता है, तो शुभ शकुन होते हैं और अशुभ कार्यों की सूचना अशुभ शकुनों के होने से मिल जाती है। अविश्वास की वृद्धि के कारण अपशकुनों की ओर लोग विशेष ध्यान नहीं देते। पहिले सभी कार्य शकुन देखकर किये जाते थे। ध्यान भी न दें, तो भी अशुभ शकुन तो अपना अशुभ फल देंगे ही।

धर्मराज को इस प्रकार दुखी, चिन्तित और विलाप करते देखकर भीमसेन ने पूछा—"राजन्! आपने ऐसे कौन-कौन-से अपशकुन देखे, जिनके कारण आप इतने चिन्तित हो रहे हैं? हमारा कोई शत्रु तो रह नहीं गया, जो हमारे ऊपर चढ़ाई करे। सगे सम्बन्धी सब मर ही गये, रही हम भाइयों की बात, सो हमें भी अधिक दिन जीने की इच्छा नहीं, फिर आप इतने चिंतित क्यों हो रहे हैं?"

धर्मराज बोले—"भीमसेन! मुझे शत्रुओं की तनिक भी चिंता नहीं। जब हमने एक बाण में त्रैलोक्य को भस्म करने वाले द्रोण, भीष्म और कर्ण आदि योद्धाओं को जीत लिया तो अब कोई शत्रु हमारा क्या अनिष्ट कर सकता है? मुझे तुम सब भाइयों के बाहुबल का भरोसा है। अपने शरीरों की भी मुझे कोई चिन्ता नहीं, वे एक दिन नष्ट होने ही हैं। किन्तु मुझे चिन्ता एक बात की हो रही है, तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन को मैंने द्वारका भेजा था। इसलिये कि वह वहाँ जाकर उस बात का पता लगावे, कि पुण्यश्लोक भगवान् वासुदेव आगे क्या करना चाहते हैं? उसे

गये हुए सात महीने से अधिक हो गये हैं, न तो वह स्वयं ही आया, न किसी दूत के द्वारा सन्देश ही भिजवाया। इसी बात से मुझे बार-बार सन्देह हो रहा है। इधर देवर्षि नारदजी भी अभी कहकर गये हैं, कि श्री भगवान् न करें, कि वह दिन हमें अपनी आँखों से देखना पड़े। जिस दिन त्रैलोक्य-सुन्दर देवकी-नन्दन अपने अनुपम लीला-विग्रह को त्यागकर, हमारे धराधाम पर रहते हुए ही स्वधाम पधार जायँ। मैं इस दुःख सम्वाद को सुनने के लिये तैयार नहीं। यही एक दुख ऐसा है, जो हमारे लिये असह्य है। भैया तुम जानते ही हो, मेरे शरीर में जो वायु चक्कर लगा रही है, श्वाँस प्रश्वास के द्वारा जो आती जाती है, वह हमारे प्राण नहीं, हमारे प्राण तो भगवान् वासुदेव ही हैं। जो भी कुछ धन मिला है, राज्य प्राप्त हुआ है, ऐश्वर्य वृद्धि हुई है, कुल और प्रजा का प्रेम उपलब्ध हुआ है, शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है, यज्ञ यागादि करके जो इस लोक और परलोक के पुण्य प्राप्त हुए हैं, वह सब उन्हीं की कृपा का तो प्रसाद है। उनके बिना हम क्या कर सकते थे। उनकी सहायता, सम्मति, कृपा अनुग्रह न होता, तो क्या हम आज इस दशा में रहते? कहीं वे हमें त्यागकर न चले जायँ, यही चिन्ता मेरे मन में बार-बार आती है और इसी के कारण मेरा मन व्यथित हो रहा है। एक नहीं अनेकों आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अपशकुन मुझे दिखाई देते हैं।"

भीमसेन ने कहा—"देव! कौन-कौन-से अपशकुन आपको हो रहे हैं? उन्हें मैं संक्षेप में सुनना चाहता हूँ!"

धर्मराज बोले—"देखो, पुरुषों के बायें अङ्ग विशेषकर आँख, भुजा और जङ्घा आदि का फड़कना अशुभ है और स्त्रियों के इन्हीं दायें अङ्गों का फड़कना अशुभ है। पुरुष की बायीं आँख के ऊपर का भाग पलक, भौं आदि फड़कना तो

अशुभ है ही, किन्तु नीचे के पलक कपोल के समीप का भाग फरकना और भी अधिक अशुभ है, मेरा वही भाग बार-बार फरक रहा है।"

भीमसेन बोले—"राजन्! आँख फरकने पर लोग एक छोटा तिनका थूक में भिगोकर लगा लेते हैं, इससे फरकना बन्द हो जाता है, अनिष्ट भी रुक जाता है।"

धर्मराज बोले—"मैंने सब करके देख लिया है। अंगों का फरकना रुकता ही नहीं। यही नहीं, हृदय भी अकारण धड़क रहा है, मन भी उदास हो रहा है।"

भीमसेन बोले—"प्रभो! कभी-कभी मानसिक भ्रम हो जाने से ऐसी दशा हो जाती है। अर्जुन के न आने से आपको ऐसी आशंका हो गई है। उसी के कारण आपका चित्त चंचल हो गया है, आप उस आनुमानसिक शंका का परित्याग करें, मङ्गलमय श्रीहरि सब शुभ ही करेंगे।"

धर्मराज बोले—"भीम! यदि यही बात होती, तो तुम्हारा कहना सत्य भी समझा जाता, किन्तु मेरे शरीर में ही नहीं बाहर भी अपशकुन दीख पड़ते हैं। देखो, सियार सियारिन सदा रात्रि में बोलते हैं, किन्तु मैं देख रहा हूँ उदय हुए सूर्य की ओर मुँह करके सियारिन रो रही है। कुत्ता मेरी ओर मुँह करके निर्भय होकर रो रहा है। जिस पुरुष को देखकर उसी के मुँह की ओर मुँह करके बुरी वाणी में बार-बार कुत्ता रोवे तो समझना चाहिये कि उसका कोई बहुत अनिष्ट होने वाला है।"

"नियम ऐसा है—गौ को दायीं ओर करके जाना चाहिये, और कुत्ता, सियार, गधा, सूकर आदि को बायीं ओर करके। किन्तु, प्रयत्न करने पर भी गौ दायीं ओर नहीं आतीं। वे बायीं ओर से भाग जाती हैं। इसके विपरीत निन्द्य पशु दायीं ओर से

निर्भय होकर निकल जाते हैं।"

भीमसेन बोले—"राजन्! संयोग से कभी ऐसा हो गया होगा जंगली पशुओं में इतनी समझ कहाँ?"

धर्मराज बोले—"भैया, ऐसी बात नहीं है। मेरे घुड़साल के घोड़ों को किसने सिखा दिया? मैं सहदेव के द्वारा उनकी कितनी देख रेख रखवाता हूँ, किन्तु वे सब नेत्रों से अश्रु बहाते रोते रहते हैं। सामने मेरे भवन पर ही बैठकर ये मृत्यु के दूत कपोत और उल्लू रात्रि भर जागते हुए कठोर-कठोर शब्द किया करते हैं। इससे ज्ञात होता है, कि विश्व का प्रलय होने वाला है। दिशाओं में अन्धकार दिखाई देता है। वे सब धूमिल हो गई हैं, तारे टूटकर पृथ्वी पर गिरते हैं, सूर्य चन्द्र के चारों ओर मण्डल दिखायी देते हैं। पृथ्वी में बार-बार कम्प होता है। पर्वत पृथ्वी में घुस रहे हैं, कहीं-कहीं पृथ्वी के नीचे से अग्नि निकल रही है। असमय में बिजली की गड़गड़ाहट-तड़तड़ाहट सुनायी देती है। ये मेघगण वीभत्स दृश्य उपस्थित करते हैं। राज्य के लोगों ने सूचनायें दी हैं कि कई स्थानों पर रक्त की वर्षा हुई है।"

भीमसेन ने पूछा—"रक्त की वर्षा कैसे होती है?"

धर्मराज बोले—"जैसे पानी बरसता है, वैसे आकाश से रक्त की वर्षा होती है। घरों की छतों पर रक्त जम जाता है, पृथ्वी रक्त रंजित हो जाती है। ऐसी वर्षा मैंने स्वयं जाकर देखी है।"

"यही नहीं, आकाश में और भी अनेकों उत्पात होते रहते हैं। चलते-चलते ग्रह परस्पर में टकरा जाते हैं। दिन में भूत, प्रेत नाचते हुए दिखाई देते हैं। पृथ्वी के अन्दर से दाह-सी निकलती है। नद, नदी, सरोवर, तालाबों के जल क्षुब्ध हो रहे हैं। सभी मनुष्यों के मन में घबराहट हो रही है।"

भीमसेन ने कहा—"किसी ने आकर आपको ये सब सूचनायें दी हैं, या आपने इन सब लक्षणों को अपनी आँखों से देखा है ?"

धर्मराज बोले—"कुछ सूचनायें तो मुझे ऐसे प्रमाणित लोगों ने आकर दी हैं, जिनकी बात पर किसी प्रकार अविश्वास नहीं किया जा सकता, कुछ मैंने स्वयं भी प्रत्यक्ष देखी हैं।"

"मैं प्रातः सायं नित्य ही अग्निहोत्र करने जाता हूँ। अग्निहोत्र की अग्नि प्रयत्न करने पर भी प्रज्वलित नहीं होती। मैं बार-बार घृत की आहुति देता हूँ, उससे भी धुँआ ही उठकर रह जाता है। एक दिन नहीं, कई दिनों से ऐसा हो रहा है। इसी से मेरी शंका बढ़ गयी है, कि न जाने यह कुटिल कराल काल कौन-सा कौतुक करने वाला है।

"घुड़शाल में ही घोड़े रोते हों सो बात नहीं, गौशाला में भी गौएँ रोया करती हैं। बछड़ों को दूध पीने छोड़ो, तो वे दूध नहीं पीते, गौएँ दूध दुहने नहीं देतीं। बैल भी सुस्त से खड़े रहते हैं, उन्हें घास, चारा, डालें तो चुगते नहीं, पता नहीं क्या हो गया ? कौन-सा रोग शोक उन्हें व्याप्त हो गया ? एक साथ सभी की ऐसी दशा क्यों हो गई ?

"यह तो मनुष्य पशु-पक्षियों की बातें हुईं। एक आश्चर्य की बात और हो रही है। देवताओं की मूर्तियों की आँखों से अश्रु बहते हैं, उनके शरीर से पसीने चूते हैं और वे रोती-सी दिखाई देती हैं। उनमें जीवित प्राणियों के समान हलचल-सी दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त और भी भाँति-भाँति के उत्पात दिखाई देते हैं। यद्यपि धन, धान्य पूर्ववत ही है, फिर भी देश, ग्राम, पुर, पुष्पोद्यान, खानें और ऋषियों के आश्रम सभी सूने-सूने श्रीहीन से दिखाई देते हैं। इन सब उत्पातों को देखकर और अर्जुन के न लौटने से मुझे बार-बार यह संदेह

हो रहा है, कि यह सौभाग्यशालिनी पृथ्वी जिस पर वज्र, अंकुश, ध्वज आदि चिन्हों से चिन्हित पाद-पद्म पड़ते थे, वह कहीं अभागिनी तो नहीं हो गई ? कहीं भगवान वासुदेव इस धराधाम को त्याग तो नहीं गये ?"

धर्मराज की बातें सुनकर भीमसेन बोले—"देव ! ये तो वास्तव में बहुत अनिष्टकारी अपशकुन हैं। अब क्या करें हम लोगों, की कुछ समझ में नहीं आता । आप आज्ञा दें तो मैं द्वारका जाकर सब समाचार लाऊँ ?" यह सुनकर धर्मराज चिन्ता मे पड़ गये और वहीं बैठे-बैठे आगे क्या करना चाहिये इसकी चिन्ता करने लगे ।"

छप्पय

गैयाँ रोवें नित्य घास घोड़ा नहिँ खावें।
बहे वायु, वीभत्स, रक्त बादल बरसावें ॥
पृथ्वी, प्रेत, पिशाच, पाप प्रानिनितैं पूरन।
भई गई शुभ कान्त, लड़ें नभ में सब ग्रहगन ॥
देव मूर्ति मुख मलिन करि, अश्रुबिन्दु बरसावतीं।
अति अपशकुन जनावतीं, दुखद दृश्य दिखलावतीं ॥

द्वारका से अर्जुन का आगमन

[४६]

इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १४ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

धर्मराज भयभीत भये अर्जुन तहँ आये।
मुखमंडल अति मलिन दुखित चिन्तित घबराये॥
सबई हर्षित भये नहीं अर्जुन हरषाये।
पकरि पैर गिरि परे, बचन नहिं कछू सुनाये।
बार-बार पूछें नृपति, बन्धु बताओ बात सब।
सम्बन्धी सब सुखी हैं? कहो कहाँ तैं चले कब॥

जब हम किसी की चिन्ता कर रहे हों और उसी समय वह वहाँ आ जाय, तो हमारे हर्ष का वारापार नहीं रहता, किन्तु उसे यदि अपने शङ्का अनुरूप ही दुखित देखें, तो उस समय हर्ष विलीन होकर दुःख छा जाता है। इसी भाव को हर्ष विषाद का सांकर्य कहते हैं। हर्ष विषाद दोनों का ही

---

*सूतजी बोले—"हे ब्रह्मन्! जिस समय महाराज युधिष्ठिर मन-ही-मन दुखित हुए इन उत्पातों को देखकर चिन्तित थे और उनके ही सम्बन्ध में सोच विचार कर रहे थे उसी समय द्वारकापुरी से लौटकर कपिध्वज श्री अर्जुन वहाँ आ गये।"

संमिश्रण रहता है। हर्ष तो देखने से निश्चित ही होता है, किन्तु विषाद के विषय में शङ्का बनी ही रहती है। उसी अपनी शङ्का

के समाधान के लिये हम उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही बहुत से प्रश्न कर डालते हैं। उस समय हम अपनी सभी शङ्काओं को साथ ही उगल देते हैं और आने वाले से उनमें से एक

सम्बन्ध में केवल 'हाँ या ना' ही सुनना चाहते हैं।

धर्मराज चिन्तित थे, दुखी थे। अपशकुनों के कारण व्याकुलता बढ़ रही थी, उसी समय उन्हें सामने से अर्जुन आते हुए दिखाई दिये। सात आठ महीने में वे आ रहे हैं, अपने सुहृद सम्बन्धियों से मिलकर लौट रहे हैं। अपने प्राणों से भी प्रिय सम्बन्धियों से चिरकाल में भेंट कर रहे हैं। इन सभी कारणों से उनको अत्यधिक प्रसन्नता होनी चाहिये थी। उनका मुख मण्डल प्रेम से प्रमुदित होना चाहिये था। वह सब कुछ न होकर वे दुखित से दिखायी दिये। मुख कुम्हलाया हुआ और तेजोहीन उनकी कान्ति फीकी पड़ गई थी। वे किसी गहरी चिन्ता से चिन्तित, किसी भारी शोक से शोकान्वित तथा सन्ताप से सन्तापित से प्रतीत हुए। अपने कमल नेत्रों से उष्ण आँसू बहाते हुए नीचा मुख करके धर्मराज के चरणों पर आकुलता के साथ गिर पड़े। अपने भाई को भी अपनी ही भाँति दुखी, चिन्तित और शोकाकुल देखकर धर्मराज को नारदजी की बात स्मरण हो आई। उनका हृदय धड़कने लगा और वे द्वारका के सभी सम्बन्धियों का पृथक्-पृथक् नाम लेकर कुशल पूछने लगे।

धर्मराज ने अर्जुन के सिर पर हाथ रखते हुए पूछा—"भैया, तुम ऐसे उदास से क्यों प्रतीत होते हो? मार्ग में क्या कोई दुर्घटना हो गई, या अधिक वेगवती सवारी पर अधिक चलने से तुम क्लान्त हो गये हो? अच्छा भैया, यह तो बताओ द्वारावती में हमारे सभी सगे सम्बन्धी मधु, भोज, दशार्द, अर्ह, सात्वत, अन्धक और वृष्णिवंशी वीर यादव अपने परिवार सहित कुशल पूर्वक तो हैं? उन सबमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ हमारे नाना महाराज शूर अपने मन्त्री अमात्यों के सहित आनन्द से तो हैं? उनके राज्य में कोई दुर्घटना तो घटित नहीं हुई! हमारे माननीय मामा वसुदेवजी अच्छी तरह से हैं न? हमारी धृतदेवा, शान्ति-

देवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी ये सातों बड़ी मामी और कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरमू और राष्ट्रपालिका आदि छोटी मामी अपने पुत्र और पुत्र-वधुओं के सहित सुख-पूर्वक तो हैं ?"

"सब यादवों के जो एकमात्र महाराज हैं, जिनकी आज्ञा में सदा करोड़ों यादव रहते हैं, जो बहुत वृद्ध हो गये हैं, जिनके दुष्ट पुत्र कंस को श्रीकृष्ण ने मारकर उन्हें सिंहासन पर बिठाया था, वे हमारे नाना के ही समान माननीय और पूजनीय महाराज उग्रसेन अच्छी तरह हैं न ? हमारी मामी देवकी के पिता महाराज देवक उग्रसेनजी के छोटे भाई तो शरीर से निरोग हैं ? ये सभी बहुत बूढ़े हो गये होंगे, मैंने तो चिरकाल से इन सबके दर्शन ही नहीं किये।

"भैया, तुम बताते क्यों नहीं ? देखो हृदय है, कृतवर्मा, अक्रूर जयन्त, गद, सारण, शत्रुजित् इन सभी की कुशल बताओ। हमारे माननीय बलदेवजी हल मूसलधारी तो आनन्दपूर्वक हैं न ? प्रद्युम्नजी के पुत्र अनिरुद्ध इन सबका समाचार सुनाओ। मैं श्रीकृष्ण के सब पुत्रों का नाम तो जानता नहीं, एक दो हों तो याद रखूँ। १६१०८० तो केवल श्रीकृष्ण के पुत्र हैं, फिर उन सबके पुत्र पौत्र भी बहुत होंगे। सबका नाम कैसे याद रख सकता हूँ, यों १०-५ मुख्य-मुख्यों के नाम मुझे याद हैं-जैसे सुषेण, चारुदेष्ण, साम्ब, ऋषभ आदि-आदि। इन सबकी बन्धु-बान्धवों सहित कुशल बताओ।

"तुम गये थे तो सबने तुम्हारा कैसे सम्मान किया ? हमारे सम्बन्ध में लोग क्या-क्या पूछते थे ? भगवान् वासुदेव कभी प्रसंग आने पर हमारा स्मरण करते हैं या नहीं ? तुम्हारा मन वहाँ रहकर प्रसन्न हुआ न ? श्रीकृष्णजी ने हमारे लिये क्या सन्देश भेजा है ? हमारे नाना-नानी मामा मामियों ने हमारे

लिये क्या-क्या उपहार दिये हैं? इन सब बातों को बताओ।"

"भगवान् की कुशल अब मैं क्या पूछूँ? वे तो कुशलस्वरूप ही हैं। समस्त आनन्द और मंगल के वे ही एकमात्र निधान हैं। स्वर्ग से जिन्होंने इन्द्र की सुधर्मा सभा मँगा ली, सत्यभामा के कहने पर जो नन्दनवन से देवताओं के दिव्य पारिजात वृक्ष को उखाड़ लाये, उनकी कुशल पूछना कुशल को भी कलंकित करना है।

"जो परिपूर्ण ब्रह्म होने पर भी ब्राह्मणों के भक्त हैं, जो मनुष्य का वेष बनाने पर भी मायातीत महेश हैं, जो यदुकुल रूपी क्षीर सागर में अनन्तावतार शेषजी का सहारा लेकर सुख से कमनीय क्रीड़ायें कर रहे हैं, जिनका न आदि है न अन्त, जो अपने शरण में आये हुए भक्तों की सदा रक्षा में ही तत्पर रहते हैं, जिनकी कृपा से समस्त यादव पृथ्वी पर रहकर भी विष्णु-पार्षदों की भाँति वैकुण्ठ के सुख का अनुभव कर रहे हैं, उनकी कुशल मैं मर्त्यलोक का माया मोह में व्याप्त प्राणी कैसे पूछ सकता हूँ?"

"अर्जुन! कैसे आश्चर्य की बात है, राजाओं के दस-बीस रानियाँ रहती हैं, तो वे सबको समान भाव से सन्तुष्ट करने में असमर्थ होते हैं। नित्य ही उन रानियों में सौतिया डाह के कारण कोई-न-कोई झगड़ा टण्टा लगा ही रहता है। कहीं-कहीं तो चोटी खींचा-खींची की भी नौबत आ जाती है, किन्तु श्रीकृष्ण के रुक्मिणी आदि १६१०८ रानियाँ हैं और सब-की-सब सन्तुष्ट हैं। सभी श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में एक से एक बढ़-चढ़कर अनुराग रखती हैं? श्रीकृष्ण भी उनके लिये ऐसे नित्य नूतन भोगों को प्रदान करते हैं, जो स्वर्ग में इन्द्र की पत्नी शची इन्द्राणी को भी दुर्लभ हैं।

"वे रानियाँ श्रीकृष्ण को अपना प्राणनाथ पति पाकर

प्रसन्नता से फूली नहीं समातीं। वे सब रानियाँ तो तुमसे बोलती-चालती होंगी और विनोद में तुमसे तुम्हारा उपहास भी करती होंगी? अपने यहाँ तो वे भगवान् के साथ कई बार आई हैं, हमसे तो सब लजाती हैं, घूँघट मारती हैं, किन्तु जब वे सब एक साथ अपने आभूषणों को खनखनाती हुई चलती हैं, तो मालूम होता है मानो मन्मथ की सजी सजाई सेना ही जा रही हो।"

इतने पर भी जब अर्जुन कुछ नहीं बोले, तब तो धर्मराज का सन्देह और भी बढ़ गया। ज्यों-ज्यों धर्मराज यादवों के कुशल पूछते, त्यों-त्यों उनका मुख फीका पड़ता जाता था इसलिये वे फिर कहने लगे—"अर्जुन! भैया, तुम बताते नहीं तुम इस प्रकार रो क्यों रहे हो? मेरे पूछने पर भी तुम यादवों की कुशल क्यों नहीं बताते? तुम्हारी किसी कारणवश यादवों से अनबन तो नहीं हो गई? तुम सर्वथा तेजहीन से दिखाई दे रहे हो, प्रायः ऐसा होता है, कि बहुत दिन सम्बन्धियों के यहाँ रहने से वहाँ के लोग उपेक्षा करने लगते हैं। द्वारका में यादवों ने तुम्हारी उपेक्षा तो नहीं की अथवा किसी ने अपमान कर दिया? दूसरों के अपमान का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, यदि अपने सगे सम्बन्धी ही अपमान करते हैं, तो उसका घाव शस्त्र से भी अधिक होता है। वह अपमान आमरण नहीं भुलाया जा सकता दुर्भावयुक्त अमङ्गल वचन हृदय में छेद कर पार हो जाते हैं, उस चिन्ता में सदा मुख म्लान बना रहता है, आन्तरिक चिंता शरीर को विकल बना देती है।

"तेजोहीन होने का एक और भी कारण है। कोई बड़ी आशा लगाकर हमारे पास किसी काम से आया। हम उसके उस कार्य को करने में हर प्रकार से समर्थ हैं। उसने आकर दीनता के साथ हमसे प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना सुनकर हमने

उसे विश्वास दिया कि अब तुम्हारे कार्य को अवश्य करा देंगे, निश्चिन्त रहो। हमारे वचन पर विश्वास करके वह निःशङ्क होकर कार्य सिद्धि की प्रतीक्षा में बैठा रहा। कुछ काल के पश्चात् लोभवश या प्रमादवश हमने कह दिया—"हमसे आपका कार्य नहीं हो सकता, आप चाहे जहाँ जायं। चाहे जिसके समीप जाकर करावें, हमारी आशा न रखें।" इस बात से उस आशावान् का अन्तःकरण जो शाप देता है और विश्वासघात के कारण अपना हृदय जो बार-बार टोंचता है, इससे भी आदमी श्रीहीन तथा कान्ति रहित हो जाता है। हमने ऐसा तो किसी के साथ नहीं किया ?"

"इस प्रकार यदि किसी कारण से दुखित होकर ब्राह्मण, बालक, गौ, वृद्ध, रोगी अथवा स्त्री अपनी शरण में आवें और हम उनकी रक्षा करने में समर्थ होने पर भी रक्षा न करें, तिरस्कार पूर्वक उनका त्याग कर दें, तो इससे भी आदमी तेजहीन और वीभत्स हो जाता है।"

तुम्हारा मुख सूख गया है पूछने पर भी तुम उत्तर नहीं देते। ऐसी दशा अपमान से भी होती है। आन्तरिक ग्लानि से भी होती है और पाप कर्म से भी ऐसी स्थिति हो जाती है। मुझे इस बात का स्वप्न में भी विश्वास नहीं हो सकता, कि तुमने भूलकर अगम्यागमन किया हो, अथवा स्नानान्तर सन्तान की इच्छा से आई स्वपत्नी का तिरस्कार किया हो। ऐसा तुमने आज तक कभी किया ही नहीं। तुमने धर्म को कभी छोड़ा ही नहीं। स्वर्ग की सबसे श्रेष्ठ उर्वशी अप्सरा ने स्वयं तुमसे प्रार्थना की। तुमने उसे अपनी माता कहकर सत्कृत किया, फिर भला तुम किसी दूसरी स्त्री की ओर आँख उठाकर कैसे देख सकते हो ? दैवयोग से भूल में कहीं तुमसे ऐसा पाप तो नहीं बन गया ? भैया !"

बलवान् पुरुष हीनबल वालों से पराजित होने पर भी कान्ति हीन हो जाता है। तुमने तो महाभारत युद्ध में भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे महारथियों को परास्त किया था। संसार में ऐसा अब कौन रह गया है, जो तुम्हें पराजित कर सके। इसीलिये पराजित होने की भी सम्भावना नहीं हो सकती।

"जब मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर लोभ में प्रवृत्त हो जाता है और जिह्वालोलुपता वश अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट वस्तुओं को अपने आश्रय में रहने वाले वृद्ध, बालकों को पहिले न खिलाकर स्वयं खा लेता है, इससे भी मनुष्य के सद्गुण विलीन हो जाते हैं और वह प्रेत के समान दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार शास्त्रों में जिनकी निन्दा की गई है, ऐसे कुकर्मों के करने से मनुष्यों का मुखमण्डल मलीन हो जाता है। ऐसा कोई निन्दित कार्य भूल से तुमसे बन गया हो, तो तुम निःशङ्क होकर मुझसे कह दो। मैं बड़े विद्वान् शास्त्रवेत्ता कर्म कांडियों को बुला कर उसका यथोचित प्रायश्चित्त करा दूँगा।

अथवा एक मुझे अन्तिम शङ्का और हो रही है। उसे मैं कहना नहीं चाहता था। भगवान् करें वह मेरी शङ्का निर्मूल ही निकले, किन्तु मुझे तो वह निर्मूल होती दीखती नहीं। भयंकर उत्पातों से, काल के विपरीत होने से और पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश मण्डल के अपशकुनों से मुझे तो रह-रहकर वही सन्देह उठ रहा है। कहीं तुम्हारे परमप्रेमास्पद, अभिन्न हृदय, सुहृद, सखा, सारथि, सम्बन्धी, स्नेही भगवान श्यामसुन्दर तुम्हें रोता बिलखता छोड़कर इस धराधाम को त्यागकर अपने स्वधाम को तो नहीं पधार गये ? भैया, पिछले जो सब कारण बताये हैं, ये तो मैंने प्रसङ्गवश वैसे ही कह दिये हैं। मेरा अन्तःकरण तो कह रहा है, तुम्हारे दुःख का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा कारण दिखाई ही नहीं देता। भैया, अब कहाँ तक बातें छिपाओगे!

अब सच-सच खोलकर कह दो। मुझे सुना दो, कि श्यामसुन्दर किस अपराध से हम अनाथों को अकेले ही छोड़कर इस पृथ्वी से अन्तर्हित हो गये ? श्यामसुन्दर अकेले ही पधारे या उनके साथ और भी कोई गये ? यादव उनके बिना कैसे जीवित रहे होंगे ? भैया, जो बात हो कह दो अब !"

इतना कहते-कहते धर्मराज फूट-फूटकर रोने लगे। अर्जुन भी ढाह मारकर बड़े जोर से रोने लगे। सभी समझ गये-यही कारण है। अतः सभी पाण्डव और सभासद शोक में संतप्त होकर दीर्घ श्वास छोड़ते हुए उच्च स्वर से विलाप करने लगे।"

छप्पय

अरजुन बोले नहीं, बहुत बिलपें पछितावें।
धरमराज पुचकारि, प्यार करि धीर बधावें॥
दुख को कारन बन्धु! शोक तजि मोइ बताओ।
यदुनन्दन के सभी सुखद संवाद सुनाओ॥
वचन कठिन काहू कहे, अथवा अपमानित भये।
या तनु तजि के भुवन पति, निज धाम तो नहिं गये॥

अर्जुन द्वारा उनकी कृपा का वर्णन

(५०)

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानाम्
राज्ञां स्वयंम्वरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

दुख को वारापार न अर्जुन कितहू पावैं ।
कृष्ण कृपा कूँ सुमिरि, नयन तें नीर बहावैं ॥
नाथ ! सारथी सदा सुहृद सम्बन्धी बनिकें ।
नित नित नेह बढ़ाइ, छाँड़ि गमने छल करिकें ॥
हाय ! प्रभो ! अब जायँ कित, इत उत नहिं सन्तोष सुख ।
अश्रु पौंछि बोले वचन, तात बात तें बढ़्यो दुख ॥

---

* अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज से श्रीकृष्ण-वियोग का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—"राजन् ! जिनकी कृपा से, द्रौपदी के स्वयम्वर के समय महाराज-द्रुपद के यहाँ एकत्र हुए कामोन्मत्त राजाओं का तेज और प्रभाव मैंने क्षीण कर दिया था और धनुष चढ़ाकर मत्स्य भेद करके अंलोकिक सुन्दरी द्रौपदी को हम सबने प्राप्त किया था। (वे ही श्यामसुन्दर हम सबको बिलखता छोड़कर अपने स्वधाम वैकुण्ठ को पधार गये)।"

हृदय जब दुःख से भर जाता है, तब मुख से बात नहीं निकलती, वाणी रुक जाती है और हृदय फटने-सा लगता है। यदि यथेष्ट अश्रुपात हों, उन्हीं के सम्बन्ध की चर्चा चले, उन्हीं के यश का गान किया जाय, तो इन कारणों से शोक कम होता है, चित्त बहल जाता है। इसीलिए शोक के समय सम्बन्धी लोग जब सान्त्वना देने आते हैं, तो आते ही उस मृतक पुरुष के गुणों का गान करने लगते हैं—"अजी, उनके सम्बन्ध में क्या कहना, वे मर्त्यलोक के प्राणी नहीं थे, साक्षात् देवता थे, हमारे साथ उन्होंने यह किया, वह किया। ऐसी बातें कह-कहकर शोकित पुरुष और परिवार को ढाँढ़स बँधाते हैं। परोक्ष पुरुष की चर्चा करने से चित्त तदाकार हो जाता है। उस क्षण वियोग का अनुभव ही नहीं होता। ऐसे प्रतीत होने लगता है, मानों हम उनके समीप बैठे प्रत्यक्ष बातें कर रहे हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार-बार भगवत् यशगुण गान, नामगुण कीर्तन पर अत्यधिक बल दिया है और बताया है, कि लीला कथा रस निषेवण के अतिरिक्त भगवत् चरणों में स्नेह बढ़ाने का दूसरा कोई सरल, सुगम सर्व सम्मत उपाय हो ही नहीं सकता। परस्पर उन्हीं की चर्चा करो, उन्हीं के गुण गाओ, उन्हीं में रमण करो।

जब धर्मराज बार-बार वही प्रश्न पूछने लगे और अपनी कल्पना से भाँति-भाँति की शङ्काओं को व्यक्त करने लगे, तब तो अर्जुन का दुःख और भी अधिक बढ़ गया। वे लम्बी-लम्बी साँस छोड़ते हुए, दुःख से व्याकुल हो गये। मुख मुरझा गया, हृदय कमल की खिली हुई कली सिकुड़ कर सूख गई। शरीर कान्तिहीन हो गया। वे उन्हीं सर्वान्तर्यामी प्रभु का ध्यान करते हुए, प्रेम सागर में निमग्न हो गये। उन्हें बाह्य जगत् का भान ही न रहा। फिर धर्मराज के प्रश्न का उत्तर वे कैसे दे सकते थे।

जब शोक का वेग कुछ कम हुआ, भगवान् के ध्यान से चित्त

की वृत्ति कुछ हटकर इस लोक में आई, तब बहते हुए अश्रुओं को अपने हाथों से ही शीघ्रता पूर्वक पोंछने लगे। उस समय उनके पलको के नीचे लालिमा दौड़ गई। श्रीकृष्ण के अन्तर्हित होने के कारण प्रेमोत्कण्ठा से कातर हुए वे कहने की इच्छा करने पर भी कुछ कहने में असमर्थ हो रहे थे। जब वे श्यामसुन्दर की त्रैलोक्य पावनी, मुनि मनहारिणी मनोहर मूर्ति का स्मरण करते तभी उनका हृदय भर आता, कण्ठ गद्गद हो जाता तब भी उन्हें भगवान् के साथीपने के, मित्रता के कार्य याद आते। इस प्रकार चिरकाल तक ऐसी स्थिति में रहने के अनन्तर वे बड़े कष्ट से धैर्य धारण करके गद्गद कण्ठ से धर्मराज युधिष्ठिर से कहने लगे—"राजन्! भगवान् ने मेरे साथ विश्वासघात किया।"

धर्मराज एक साथ चकित हो गये और संभ्रम के साथ बोले—"भैया, सब बातें बताओ क्या हुआ? भगवान् तो बड़े भक्तवत्सल हैं!"

रोते-रोते अर्जुन बोले—"कहाँ हैं भक्तवत्सल! भक्तवत्सल ही होते, तो मुझ पापी को इसी प्रकार बिलखता हुआ इस धराधाम पर छोड़ जाते और आप अकेले ही स्वधाम को पधार जाते?"

पछाड़ खाकर सिंहासन से नीचे गिरते हुए धर्मराज ने कहा—"हाँ, श्यामसुन्दर! तुम सचमुच इस धराधाम को त्याग गये क्या?"

धर्मराज को नीचे गिरते हुए देखकर मन्त्री और सचिवों ने बड़ी सावधानी से उठाकर उन्हें पुनः सिंहासन पर बिठाया। महाराज युधिष्ठिर बालकों की भाँति बिलखते हुए बोले—"अर्जुन! अर्जुन! तुम मुझे श्यामसुन्दर की सभी बातें बताओ, उनकी पावन कथायें कहकर मेरे संतप्त हृदय को कुछ काल के

लिये शीतल बनाओ। हाय ! मेरा हृदय वज्र का बना हुआ है। वह श्यामसुन्दर की वियोगवार्ता को सुनकर भी फट नहीं जाता। इसके टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाते। अरे, तुम्हारा वह महा-भारत का बल कहाँ चला गया ? वहाँ रहते हुए तुमसे कुछ भी करते नहीं बना ?"

आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठ से अर्जुन बोले—"मेरा तेज कहाँ था ? वह तो सभी उन्हीं की विभूति थी। वे ही मेरे शरीर में प्रवेश करके सब कार्य करा रहे थे। उनके साथ-ही-साथ मेरा तेज भी चला गया। मैं निस्तेज हो गया हूँ, अब मुझमें न बल है न पराक्रम। मैं मृतक के समान बना हुआ हूँ, मैं ही क्या, श्यामसुन्दर के बिना सभी संसार शव के समान है। निर्जीव प्राणी के समान हो गया है। कितनी कृपा उनकी हमारे ऊपर थी। कितना प्यार वे हमसे करते थे। सर्वप्रथम द्रौपदी के स्वयम्बर में मुझे भगवान् वासुदेव के दर्शन हुए थे। वे स्वयम्वर सभा में बलदेवजी के साथ ऐसे ही सुशोभित हो रहे थे, मानों जल से भरा हुआ मेघ विद्युतपुञ्ज के सहित शोभा पा रहा हो। वे राजाओं की मण्डली में ऐसे ही चमक रहे थे, जैसे असंख्यों ताराओं में चन्द्रमा चमक रहा हो। अत्यन्त स्नेह भरी दृष्टि से उन्होंने ब्राह्मण वेष में छिपे हुए हमें देखा। उनकी उस चितवन में इन्द्रजाल का-सा जादू था। मैं एक साथ ही उनकी ओर आकर्षित हो गया। उन्होंने भी अपना सम्पूर्ण प्यार बटोर कर, वहीं भरी सभा में मेरे ऊपर उड़ेल दिया।

द्रौपदी त्रैलोक्य सुन्दरी थी। बड़े-बड़े बलवान् राजा उसे पाने की इच्छा रखकर प्राणपण से प्रयत्न कर रहे थे। यन्त्र में टँगी हुई मछली के लक्ष्य को भेदने के लिये सभी एक से एक बढ़कर व्यग्र हो रहे थे। सभी चाहते थे, कि अयोनिजा द्रौपदी हमें ही मिल जाय। द्रौपदी के त्रिभुवन सुन्दर स्वरूप को निरख

कर सभी का चित्त चञ्चल हो रहा था। सभी को पञ्चशर ने अपने पुष्पायुध का लक्ष्य बना लिया था। श्रीकृष्ण के लिये मत्स्य के लक्ष्य को भेद करना कौन-सी बड़ी बात थी। राजा बृहत्सेन की पुत्री लक्ष्मणा के विवाह में भी इसी प्रकार का नहीं इससे भी कठिन लक्ष्य भेद करना था, द्रुपद की सभा वाला लक्ष्य तो बाहर से दीखता भी था, किन्तु महाराज बृहत्सेन का लक्ष्य तो बाहर से भी ढका था और निरन्तर घूम ही रहा था। उसकी केवल छाया जल में पड़ती थी। छाया देखकर ही लक्ष्य भेद करना था। उस स्वयम्बर में भी सभी राजा पहुँचे थे। मैं भी वहाँ उपस्थित था। किसी पर वह लक्ष्य नहीं भेदा गया। मैं भी उठा किन्तु मेरा बाण भी लक्ष्य को छूता हुआ निकल गया, तब भगवान् वासुदेव उठे और बात की बात में परछाईं देखकर लक्ष्य को बाण से काटकर फेंक दिया। उन्हें उस कार्य में कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ा। उनके लिये द्रुपद सभा वाला लक्ष्य भेद करना कौन-सा कठिन था, किन्तु उन्होंने मन से भी उस लक्ष्य को भेदने का विचार नहीं किया। वे तो त्रैलोक्य सुन्दरी द्रौपदी को हमारी पत्नी बनाना चाहते थे। वे तो सबके सम्मुख विजयी बनाने के लिये कटिबद्ध थे। वे बार-बार हमारी ओर देखते और पास में बैठे हुए बलदेवजी के कान में कुछ कहते जाते और सैनों के द्वारा हमारी ओर संकेत करके कुछ बताते जाते थे। मैंने उसी समय समझ लिया, ये ही मेरे मामा वसुदेव के पुत्र भगवान् वासुदेव हैं। उसी भरी सभा में मैंने अपना सर्वस्व उनके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया।

जब सभी राजा लक्ष्यभेद में असमर्थ सिद्ध हुए, तो ब्राह्मणों की मंडली में विप्र रूप धारण किये हुए मैं उन सब ब्राह्मणों की प्रेरणा से उठा। मैंने मन-ही-मन अपने प्राणधन श्यामसुन्दर के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने बड़ी ममता से मेरी ओर निहार

और हृदय से मेरी मङ्गल कामना की। सभी समुपस्थित राजा और राजकुमार चकित थे, कि यह भिक्षुक ब्राह्मण ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहा है? जिस लक्ष्य को बड़े-बड़े बलवान् राजा नहीं भेद सके; उसे यह अनाथ भिक्षुक वेदाध्ययन करने वाला ब्राह्मण कुमार कैसे भेदन कर सकता है? मैंने श्रीकृष्ण की कृपा के बल पर किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया और सबके देखते-देखते लक्ष्य भेद करके सभी राजाओं के सिर पर पैर रखकर, मैं द्रौपदी को लेकर सभा मंडप के बाहर हो गया।

आप तो उस समय चले आये थे। सभी राजा हमें विजयी देखकर हमारे ऊपर टूट पड़े। भीमसेन ने तुरन्त वहाँ से एक बड़ा भारी वृक्ष उखाड़ लिया और वे उसी से राजाओं को मारने लगे। इस कार्य को देखकर श्रीकृष्ण कितने मग्न हो रहे थे, मेरी दृष्टि उधर ही लगी थी। वे बार-बार उछल-उछल कर हमारी ही ओर देख रहे थे, और अत्यन्त उत्सुकता के साथ बलदेवजी को बार-बार हमारा परिचय दे रहे थे। सफेद वस्त्र पहिने नीचा सिर किये द्रौपदी को मेरे साथ जाते देखकर और उसकी पहिनाई सुन्दर माला को मेरे गले में देखकर, वे आनन्द से नृत्य करने लगे। वे बिना पलक मारे हमारी अनुपम युगल जोड़ी को निहार रहे थे।

सब राजाओं को परास्त करके हम द्रौपदी को लेकर अपने वास स्थान (कुम्हार के घर) आये। उस समय रात्रि हो गई थी। मैं श्यामसुन्दर की माधुरी मूरति की ही चिन्ता कर रहा था कि उसी समय बड़े-बड़े कमलों की माला पहिने पीताम्बरधारी देवकीनन्दन, बलदेवजी के साथ हमारे समीप आ पहुँचे। उन्होंने आते ही माँ कुन्ती के पैर छुए और आपके पैरों में लिपटकर कितनी ममता के साथ कहने लगे—"राजन्! आप मुझे नहीं जानते? पहिले आपने मुझे देखा नहीं। मैं वसुदेवजी

का पुत्र श्रीकृष्ण हूँ, तुम्हारा छोटा भाई हूँ।" तब आपने उन्हें कितने प्यार से छाती से चिपटाया था। वे अबोध बच्चे की तरह बिना कुछ आपत्ति किये अपने सभी अङ्गों को शिथिल किये आपकी गोद में चिपके रहे। तब मैंने उठकर उन्हें प्रणाम किया। अपनी विशाल बाहुओं में मुझे कसते हुए अपनी छाती से सटाते हुए, मन्द-मन्द मुस्कराकर द्रौपदी की ओर लक्ष्य करके कैसे विनोद में बोले—"भैया, बहू है तो काली किन्तु बड़ी मलूक है, तुम्हारी जुगल जोड़ी खूब फले-फूले।" प्रथम मिलन में ही इतना ममत्व, इतना वात्सल्य इसके पूर्व मनुष्यलोक में तो मैंने देखा नहीं था। उसी समय चोर की तरह बोले—"अब हम लोग जाते हैं, अभी आपका सबके सम्मुख प्रकट होना उचित नहीं। अभी प्रकट होने से हम सबके लिये बड़ा भय उपस्थित हो सकता है।"

"राजन्! उन चराचर के स्वामी के लिये किसका भय था, वे मनुष्यलीला कर रहे थे। अपनी भक्तवत्सलता दिखा रहे थे। हम पर अपने सांसारिक सम्बंधी होने का भाव प्रकट कर रहे थे, उन्हीं की कृपा से हम सबने कृष्णा को पाया। महाराज द्रुपद से हमारा पैतृक राज्य भी हमें प्राप्त हुआ। भगवान् की कृपा न होती तो हमें राज्य कौन देता? इसी प्रकार भिक्षा माँगते हुए वनों, जङ्गलों और नगरों में भटकते रहते, किन्तु उन सर्वेश्वर ने हमें छत्रपति सम्राट् बनाया और हम सभी भाई इन्द्रप्रस्थ में उसी प्रकार सुख से रहने लगे, जिस प्रकार देवता स्वर्ग में रहते हैं।

द्रौपदी और आपके एकान्त भवन में, विप्र की, गौओं की रक्षा के निमित्त अपने अस्त्र लाने के कारण नियम भंग होने से मुझे १२ वर्ष निश्चयानुसार वनवास करना पड़ा। इसी प्रसंग में मैं द्वारका भी चला गया। वहाँ भगवान की सगी बहिन सुभद्रा

से मेरा मन मिल गया। घट-घट की जानने वाले वे श्रीहरि समझ गये। वे जानते थे कि उनके बड़े भाई इस सम्बन्ध के लिये कभी स्वीकृति न देंगे। वे दुर्योधन के साथ उसका विवाह करने का पूर्ण निश्चय कर चुके थे, किन्तु उन शरणागत वत्सल आश्रितों की समस्त इच्छाओं के पूर्ण करने वाले देवकीनन्दन ने हँसते हुए मेरे कान में कह दिया—"तुम मेरी बहिन सुभद्रा को हर ले जाओ।" यही नहीं, उन्होंने अपना रथ भी मुझे दे दिया। हाँ! कहाँ तक उनकी कृपालुता का वर्णन करूँ? कहाँ तक उनकी दया, अनुकम्पा और अनुग्रह की कहानियाँ कहूँ? प्रत्येक बात में वे मेरा मन रखते गये। जो मैंने कहा—उसी के लिये हँसकर 'हाँ' कह दिया। मेरी बात पर वे 'ना' करना तो सीखे ही नहीं थे। हाय! मुझे क्या पता था, कि वे अन्त में मेरे साथ ऐसा छल करेंगे, मुझे इस प्रकार रोता हुआ छोड़कर स्वयं अकेले ही स्वधाम को पधार जायेंगे। अब भी जब मैं गया था, तो चिरकाल तक वे ही पुरानी बातें करते रहते थे। कितने स्नेह से वे मुझे रखते थे। अब उनकी एक-एक बात मुझे स्मरण आ रही है और हृदय में शूल की भाँति चुभकर पीड़ा पहुँचा रही है। राजन्! अब संसार रहने योग्य रहा नहीं।"

इतना कहते-कहते अर्जुन फिर भगवान् की अतीत काल की स्मृतियों के हृदयपटल पर अंकित हो जाने से, भली-भाँति से विलाप करने लगे।"

छप्पय

जिनकी कृपा कटाक्ष पाइ हम भये सुखारे।
राजन् कैसे कहूँ श्याम निजधाम पधारे॥
जिनके प्रेम प्रसाद प्रिया कृष्णा सी पाई।
यन्त्र मत्स्य कूँ बेधि द्रुपदपुर लही बड़ाई॥
काममत्त सब नृपनि के, सिर पर पैर जमाइकें।
द्रुपदसुता हमने बरी, गये अनाथ बनाइकें॥

खांडवदाह के समय की कृपा का वर्णन

[५१]

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

जिनकी लहिकें कृपा अकारज कारज कीन्हें।
विप्रवेष महँ वन्हि आइ वर माँगे दीन्हें॥
सविधि समरथी श्याम, भोज्य बहुखाण्डव दीन्हों।
अति प्रचंड धरि रूप दाह वन सबरो कीन्हों॥
देवराज रच्छा करी, किन्तु पराजित वे भये।
धराधाम तज धाम निज, अज अच्युत अब चलि गये॥

---

* अर्जुन धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! अग्नि ने मुझसे खाडव वन खाने को मांगा था, उन्हीं श्यामसुन्दर के आश्रय को पाकर मैंने अग्नि को उसे दे दिया। अग्नि के जलाने पर क्रोध करके युद्ध के लिये आये हुए इन्द्र को मैंने देवताओं सहित उन्हीं की कृपा से जीत लिया था। मय दानव की रक्षा करके प्रत्युपकार में आपको उसने अद्भुत शिल्पकला विशिष्ट सभा बनाकर दे दी थी, जिसमें राजसूय यज्ञ के समय देश देशान्तरों के राजाओं ने आपको भेंट दी थी जिनकी कृपा से ये सब प्राप्त हुए थे वे हमें निःसहाय छोडकर स्वधाम पधार गये।"

धर्मराज के दुःख का वारापार नहीं, बिना पानी के कीच में सूर्य की किरणों से तप्त होकर जिस प्रकार मछली तड़फड़ाती है, उसी प्रकार वे कृष्ण वियोग में तड़फड़ा रहे थे। अर्जुन के चुप हो जाने पर वे बोले—"भैया, अर्जुन! तुम उन देवकी-नन्दन के अत्यन्त प्रिय सखा हो। मुझ अभागे को तो उन्होंने बड़ा मान लिया, अतः मेरे सामने तो वे कुछ-कुछ लजाते थे, किन्तु तुम तो उनके अभिन्न हृदय थे। तुम्हारे साथ तो वे निःशङ्क होकर बिना किसी प्रकार के संकोच के व्यवहार करते। वे जब भी जाते तुम्हें साथ लेकर जाते। तुम्हारे बिना अकेले वे खाते भी नहीं थे। हमारे तो वे ही श्यामसुन्दर संसार में सहारा थे, उनके बिना हम जीवित रह ही नहीं सकते। हम उनका स्वधाम प्रयाण सुनते ही निष्प्राण इसीलिये नहीं हुए हैं, कि तुम उनकी स्मृति दिला-दिलाकर भाव जगत में उनका साक्षात्कार करा रहे हो। लीलाओं के स्मरण से ही हम किसी प्रकार प्राण धारण कर सकते हैं। अतः भैया, तुम चुप न हो, उनकी स्मृति कराते रहो, उनके गुण गाते रहो, इससे मेरा शोक सन्ताप कुछ कम हो रहा है। ध्यान में मैं उन नन्द-नन्दन का दर्शन पा रहा हूँ, उनका वियोग दुःख उनकी लीला श्रवण से विस्मृत-सा हो जाता है। अतः और कोई प्रसङ्ग कहो, क्योंकि अब दूसरी चर्चा तो हो नहीं सकती। निद्रा नेत्रों से भागकर भगवान् को खोजने चली गई है। इस इतनी बड़ी शोकपूर्ण रात्रि को किसी प्रकार व्यतीत करना है। आगे के जो भी कुछ कार्य होंगे, प्रातःकाल ही होंगे। उदयाचल से जब नूतनता लिये हुए भगवान् दिवाकर उदित होंगे, तभी वे हमें भविष्य का कर्तव्य बतावेंगे। तब तक तुम त्रैलोक्य पावन द्वारकानाथ के ही सम्बन्ध में कुछ कहते रहो।"

धर्मराज इतना कह कर चुप हो गये। धर्मराज के भाई

मन्त्री तथा और भी जो प्रधान-अधिकारी थे, सभी पाषाण की मूर्ति की भाँति शोक सन्तप्त हुए निश्चल भाव से बैठे थे, शौच, सन्ध्या, खाना, पीना सभी बातें वे भूल गये थे। अश्रु बहाते हुए वे अर्जुन के मुख से श्रीकृष्ण की कृपा की कथा सुन रहे थे। आँसू पोंछकर और गले में आये हुए श्लेष्मा की खकार-गले को स्वच्छ करके-रोते हुए अर्जुन बोले—"राजन्! एक बात हो तो कहूँ भी। मेरे तो रोम-रोम में उनके अनन्त उपकार भरे पड़े हैं। यदि मेरे प्रत्येक रोम में कोटि-कोटि जिह्वायें हो जायँ और प्रलय के अन्त तक का कहने को समय मिल जाय, तो भी उसके समस्त उपकारों का कथन नहीं कर सकता। उन्होंने ऐसी-ऐसी लीलायें कीं, ऐसे-ऐसे दृश्य दिखाये, जो ब्रह्मादिक देवताओं के लिये भी दुर्लभ हैं, इन्द्र, अग्नि वायु-ये कितने प्रबल देवता समझे जाते हैं, किन्तु ये सब उनके सम्मुख हाथ जोड़े हुए खड़े रहते थे और वे भी उनके साथ ऐसा विनोद करते थे, जैसा बच्चा कागज के खिलौने के साथ करता है। जब चाहा फूँक मारकर फुला दिया। जब इच्छा हुई वायु निकाल कर पिचका दिया। मन में आई ऊपर आकाश में उड़ा दिया और खेलते-खेलते जब ऊब गये तो फट्ट करके फोड़ दिया। खिलौने की रचना करना भी उनके लिये खेल था। फुलाना, पिचकना, उड़ाना, यह भी खेल था और फोड़ने में भी उनका मनोरञ्जन होता था। शब्द करके फूटता हुआ देखकर भी खिल खिलाकर हँस पड़ते। उसमें भी उन्हें शोक, सन्ताप नहीं होता था। एक प्रकार का आनन्द ही आता था। देवता उनके मानवी रूप को देखकर मोह में फँस जाते और उन्हें कभी-कभी साधारण मनुष्य समझकर व्यवहार करते, उस समय वे भी सामान्य मनुष्यों की ही भाँति व्यवहार करने लगते, वैसी ही चेष्टायें दिखाने लगते। इससे उनकी मानवी लीलायें बड़ी ही सुखप्रद और सरस बन

जातीं। मानवीय भावों में दिव्य लीलायें प्रकट हो जातीं।

आपको स्मरण होगा, हम एक समय आपकी आज्ञा लेकर यमुना तट पर वैसे ही विनोदार्थ जल क्रीड़ा करने गये थे। एकांत पाकर वे मुझ पर कितना स्नेह जनाते थे, अपने अपार प्यार से मुझे आच्छादित कर लेते और मैं उस प्रेम प्रवाह में ऐसा बह जाता था, कि अपने आपे को भूल जाता था। हाँ, तो आपने स्नेहवश बहुत से नट, नर्तक, दास दासी, गाने बजाने वाले हमारे साथ भेजे थे, किन्तु मुझे ये सब प्रसन्न नहीं कर सकते थे। यमुना किनारे जाकर हम सबने यथेष्ट अमोद-प्रमोद किया। वे मुझे लेकर सवर्णा सवितृ-तनया के जल में बड़ी देर तक क्रीड़ा करते रहे। मेरे साथ होड़ लगाकर वे तैरते, मेरे ऊपर जल उलीचते, जलकणों के प्रहार से मुझे आकुल कर देते, तब मैं उन्हें कस कर पकड़ लेता। कैसा सुखद था उनका स्पर्श, कितना आभापूर्ण था उनका श्रीअङ्ग। हाय! वे दिन अब स्वप्न हो गये, वे बातें पूर्व की-सी प्रतीत होने लगीं।

जब जल क्रीड़ा करते-करते क्लान्त हो गये, तो उन्होंने स्नेह भरी वाणी से कहा—"अर्जुन! इस भीड़ भाड़ में मेरा मन प्रसन्न नहीं होता, चलें कहीं एकान्त में चलकर बैठें।"

"अन्धे तुझे क्या चाहिए। दो दिखाई देने वाली आँखें।" मैं भी यही चाहता था। मुझे लेकर वे एक निर्भय निकुञ्ज में जा बैठे। मेरी गोद में उन्होंने अपना सिर रख दिया था। अमृत भरी दृष्टि को मेरी दृष्टि में घोलकर वे मेरे हृदय में प्रेम रस का संचार करने लगे और अनेक रहस्य की बातें कह-कहकर मुझे वे पृथ्वी पर ही वैकुंठ सुख का अनुभव कराने लगे। हा! संसार में वे प्राणी धन्य हैं, जिन्हें कोई अत्यन्त स्नेही अपने मन-का सा मित्र मिला हो। एक मित्र जब दूसरे मित्र से एकान्त में अपने हृदय की रहस्यमयी बातें करता है, तो यह

दुःख पूर्ण संसार विलीन हो जाता है। इस संसार से पृथक् जो एक सदा सुखमय भाव-संसार है, उसी में उस समय वे दोनों

मित्र विचरण करने लगते हैं। मैं भी उस अनुपम प्रेम रस का रसास्वादन कर रहा था, कि इतने में ही एक ताड़ के समान लम्बा, परम तेजस्वी, लाल-लाल दाढी मूँछों वाला ब्राह्मण

देव को आया देखकर मेरा सभी रस किरकिरा हो गया। रङ्ग में भङ्ग हो गया, एकत्व में द्वैत ने प्रवेश किया, निःसंकोच में संकोच ने आकर गड़बड़ी डाल दी। हम दोनों ही ब्राह्मण के सम्मानार्थ उठकर खड़े हो गये। आते ही उस तेजस्वी ब्राह्मण ने कहा—"मैं बड़ा भूखा हूँ, मुझे आप लोग कुछ भोजन के लिये दीजिये!"

"मैं तो कहने वाला ही था—"ब्राह्मण देवता, भोजन के लिये आपने हमारे एकान्तिक रस मे क्यों विघ्न डाला? हमारे सेवकों के समीप यथेष्ट भोजन है, वहां से माँग लेते। किन्तु श्रीकृष्ण का रुख देखकर मैंने कुछ भी न कहा। तब वे ही भवभयहारी वनवारी अपनी मेघ गम्भीर वाणी के द्वारा उस विप्र को सम्बोधन करते हुए कहने लगे—"विप्रवर! हम आप साधारण ब्राह्मण दिखाई नहीं देते। न आपकी साधारण भोजन से तृप्ति ही होती दिखायी देती है। अतः प्रथम आप अपने भोजन का निर्देश करें कि आप क्या भोजन करेंगे। आपका भोजन सुन कर हम निर्णय करेंगे, कि हम आपकी तृप्ति करने में समर्थ हैं भी या नहीं।"

भगवान् की बात सुनकर मैं तो चक्कर में पड़ गया। अब मैं भी सम्हल गया। जिसे मैं साधारण ब्राह्मण समझे बैठा था, उसके भोजन से तो अखिल ब्रह्मांड को तृप्त करने वाले श्यामसुन्दर भी शङ्कित हो रहे हैं। वह ब्राह्मण सूर्य की किरणों के समान अपनी लाल-लाल दाढ़ी को हिलाते हुए हँसा और बोला—"भगवान्! मैं साधारण ब्राह्मण नहीं। मैं साक्षात् अग्नि हूँ। मुझे अजीर्ण हो गया है और इस समीप के खांडव-वन को जलाना चाहता हूँ। इसमें जो अनेक यक्ष, राक्षस, असुर, नाग, सर्प रहते हैं, उनके मांस मेदा को जलाकर ही हमारी तृप्ति हो सकती है। इस वन के भस्म करने पर ही मेरा अजीर्ण जीर्ण हो सकता है।"

भगवान् बोले—"तब जला दो, हमसे क्या पूछते हो ? तुम तो हुताशन हो, सम्पूर्ण ब्रह्मांड को भस्म करने में समर्थ हो।"

अग्नि ने खेद के स्वर में कहा—"जलाऊँ कैसे, इसमें तक्षक नाग सपरिवार रहता है। इन्द्र से उसकी मैत्री है। इसीलिये इन्द्र ने इस सम्पूर्ण वन की रक्षा का भार अपने ऊपर ले रखा है। मैं जब भी चेष्टा करता हूँ, तभी इन्द्र इतनी अधिक वृष्टि कर देते हैं, कि मेरा कुछ वश ही नहीं चलता। अनेकों बार मैंने चेष्टा की, किन्तु सदा असफल ही रहा। आप दोनों अस्त्र-शस्त्रों में विशारद हैं। आप चाहें, तो अपने अस्त्रों से इन्द्र की वृष्टि रोककर मेरे मनोरथ को पूर्ण कर सकते हैं।"

"राजन्! जब कभी भी अस्त्र-शस्त्र के पराक्रम का कार्य पड़ता तो वे मेरी ओर देखने लगते, मानों वे अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में कुछ जानते ही नहीं हैं। मैं भी उनका सहारा पाकर ऐसे-ऐसे कार्यों को कर डालता, जिसे समस्त देवता भी मिलकर नहीं कर सकते। ऐसे कठिन कार्यों की प्रतिज्ञा कर लेता जिसका पालन करना मर्त्यलोक के प्राणी की शक्ति के बाहर की बात है। भगवान का रुख पाकर मैंने कहना आरम्भ किया—"अग्निदेव! आप निःशङ्क होकर खांडव वन को जलावें। हम आपकी रक्षा करेंगे। मेरी बाहुओं में इतना बल है, कि एक इन्द्र की तो बात ही क्या, सैकड़ों इन्द्र एक साथ आ जायँ, तो भी मुझे परास्त नहीं कर सकते। किन्तु मेरे बल के अनुरूप मेरे पास अस्त्र-शस्त्र और रथ नहीं है। साधारण धनुषों को जब मैं सहज स्वभाव से ही खींचता हूँ, तो कितना भी दृढ़ धनुष क्यों न हो, मेरे बल को न सह सकने के कारण वह तड़ाक से टूट जाता है। मैं अत्यन्त हा लाघव के साथ–दोनों हाथों से समान रूप से–अत्यन्त शीघ्र बाण छोड़ता हूँ। कितने भी बाण क्यों न हों, वे शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं। अतः आप मेरे बल के अनुरूप एक अत्यन्त दिव्य

धनुप दें, अक्षय तूणीर और मेरे वेग को सह सकने योग्य रथ दे दें, तो मैं श्रीकृष्ण की सहायता से आपका मनोरथ पूर्ण कर सकता हूँ।"

मेरी बात सुनकर श्यामसुन्दर मुस्कराये। अग्निदेव प्रसन्न हुए और तभी मुझे यह जगत प्रसिद्ध गांडीव धनुप, अक्षय तूणीर और जिस ध्वजा पर कपिराज मारुतनन्दन विराजमान् रहते हैं, वह दिव्य रथ अग्नि द्वारा प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण को भी अग्नि ने सत्कारार्थ चक्र और आग्नेयास्त्र प्रदान किया। उन्हें अस्त्रों की क्या आवश्यकता थी? उनके तो संकल्प मात्र से ही सृष्टि विलीन हो सकती है, किन्तु उन्होंने अग्नि का अपमान नहीं किया। वे अस्त्र उन्होंने श्रद्धा सहित ग्रहण किये।

राजन्! जिस समय अग्निदेव खांडववन को जलाने लगे, तब देवताओं की प्रेरणा से दल बल के सहित इन्द्र उसकी रक्षा करने के लिये आये। उन्होंने आते ही हमसे युद्ध ठान दिया। मैं अपना गांडीव धनुप तानकर श्रीकृष्ण की बगल में खड़ा होकर देवताओं पर तथा देवराज के ऊपर बाण वर्षाने लगा। मेरी बाण वर्षा से व्यथित होकर सभी देवता अपने-अपने प्राणों को लेकर रण से भाग गये। इन्द्र भी हम दोनों का बल वीर्य समझकर युद्ध से उपराम हो गये। मेरे पिता इन्द्र उस समय लज्जित भी हुए और हर्षित भी। लज्जा तो उन्हें अपनी परजय से हुई, हर्ष मेरे पराक्रम को देखकर हुआ। राजन्! वह मेरा निज का पराक्रम नहीं था, उन्हीं पुराण पुरुप प्रभु का दत्त बल वीर्य था। वह पराक्रम उनके साथ-साथ ही चला गया। अब तो मैं फिर साधारण पुरुषों की भाँति ही निर्वीर्य बन गया।

अहा! उस समय भगवान् की कैसी अद्भुत शोभा हो रही थी। अग्निदेव खांडव वन को जला रहे थे, चारों ओर चट-चट शब्द हो रहा था। सिंह, व्याघ्र, भालू, पशुपक्षी,

नाग, सर्प सभी जीव जल रहे थे। श्रीकृष्ण मेरे रथ से अपना रथ सटाते हुए अलातचक्र की भाँति चारों ओर अरण्य की

परिधि में परिभ्रमण कर रहे थे। कोई भी जीव अग्नि की चपेट से निकल कर भागने का प्रयत्न करता, उसे हम दोनों अपने तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से मार गिराते थे। दैवयोग से इन्द्र का मित्र

तक्षक नाग उस समय कुरुक्षेत्र गया हुआ था वह तो जलने से बच गया, किन्तु दैत्य दानवों का सुप्रसिद्ध शिल्पी—विश्वकर्मा के ही समान शिल्प विद्या में पारङ्गत—मय नाम का दानव उसके यहाँ ठहरा था। अग्नि की लपटों से दुखित होकर मय दानव वहाँ से भागा। अग्निदेव वायु की सहायता से उसे भक्षण करने के निमित्त उसके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। अग्नि की लपटों को अपनी ओर आते देखकर मय दानव एक गुप्त मार्ग से भागा। उसने सम्मुख चक्र लिये और भागते हुए प्राणियों का संहार करते हुए श्रीकृष्ण को देखा। श्रीकृष्ण मय दानव को भागते हुए समझकर चक्र लेकर उसके पीछे दौड़े। राजन! वायु की सहायता से प्रचंड हुए अग्नि जिसका पीछा कर रहे हों और साक्षात् अंतक के समान चक्र लिये श्रीकृष्ण जिसे मारने के लिये दौड़ रहे हों, संसार में उसकी रक्षा कौन कर सकता है? कौन उसे श्रीकृष्ण के चक्र से बचाने में समर्थ हो सकता है?

मयदानव ने जब देखा, कि अब संसार में मेरा कोई भी रक्षक नहीं, तब वह मेरी शरण में आया। उसने बड़ी करुणा भरी वाणी में पुकार कर, मुझे सम्बोधित करते हुए कहा—"हे पांडुनन्दन! प्रचण्ड अग्नि से, और चक्रधारी श्रीकृष्ण से मेरी रक्षा करो।"

मैंने उसी समय आवेश में आकर कह दिया—"तुम निर्भय हुए, अब तुम्हें अपने प्राणों का भय न करना चाहिये।"

दूसरा कोई शूर वीर होता, वह अपना घोर अपमान समझता। सगा भाई भी क्यों न होता, वह भी उस समय अपने शत्रु के कार्य में हस्तक्षेप करने से व्यथित होता, किन्तु वे हरि तो हँस पड़े और प्रसन्न होकर मय से बोले—"हे दानवों में श्रेष्ठ मय! अब तुम्हें किसी प्रकार की चिंता न करनी चाहिये! कुन्ती-

नन्दन ने जिसे अभयदान दे दिया, उसे संसार में मारने का साहस कर ही कौन सकता है ?"

वे अपने सेवकों पर कितनी कृपा रखते थे ? उनकी बातों को कितना महत्व देते थे ? उनकी प्रतिज्ञा की रक्षा अपनी प्रतिज्ञा खोकर करते थे। यह उनकी भगवत्ता के अनुरूप ही था, मनुष्यों में ऐसी शक्ति कहाँ हो सकती है ? वे इतनी सहनशीलता प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं।"

इस उपकार के बदले में मैंने कुछ प्रत्युपकार करना चाहा। मेरा सीधा-सादा-सा उत्तर था—"भैया, मेरा सबसे श्रेष्ठ कार्य है, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता। श्रीकृष्ण जिस कार्य से प्रसन्न हो जायँ वही तुम कोई कार्य कर दो।"

उसने भगवान् से प्रार्थना की। मय की प्रार्थना सुनकर सर्वान्तर्यामी कुछ काल मौन रहकर कुछ सोचते रहे। उस समय की उनकी चिन्तायुक्त मुद्रा कितनी सुहावनी थी, वे सोच रहे थे–मेरा सबसे प्रिय कार्य कौन-सा है। सोचकर वे बोले—"भैया, तुम यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो, तो धर्मराज युधिष्ठिर के लिये एक ऐसी अनुपम दिव्य सभा बना दो, जिसकी बराबरी की सभा संसार में दूसरी न हो और दैत्य, दानव, देवता गन्धर्व आदि कोई भी उसके समान दूसरी न बना सकें। इससे बढ़कर प्रिय कार्य संसार में मेरे लिये दूसरा नहीं है। मैं धर्मराज को सम्राट के दिव्य सिंहासन पर उस सभा में बैठा देखकर जितना प्रसन्न हूँगा, उतना प्रसन्न किसी भी कार्य से नहीं हो सकता।"

राजन् ! यह थी उनकी भक्तवत्सलता। यह था उनका हमारे ऊपर अपार प्यार। यह था उनका निष्कपट प्रेमपूर्ण ममत्व से भरा हुआ सद्व्यवहार। श्रीकृष्ण से ही आपको वह दिव्य सभा प्राप्त हुई थी, जिसमें राजसूय यज्ञ के समय पृथ्वी

के सभी नरपतियों ने आकर आपको भाँति-भाँति के उपहार दिये थे। जिस सभा की कारीगरी से दुर्योधन को जल में थल का और स्थल में जल का भ्रम हो गया था। श्रीकृष्ण की कृपा से ही वह संसार की सर्वश्रेष्ठ सभा आपको बैठने के लिये मिली थी।

उन्होंने मुझे अपने प्रेम से पाल-पोषकर आकाश से भी ऊँचा उठा दिया। मुझे अपने सौभाग्य पर गर्व हो गया था। मैं अपने को कुछ समझने लगा था, सबसे हृदय हिलाने वाली, उनके आन्तरिक प्रेम को प्रकट करने वाली एक घटना वहाँ अंत में हुई।

इन्द्र को अपने देवराज होने का अभिमान था। जब खांडव वन जल चुका, अग्नि तृप्त होकर सन्तुष्ट हो गये, तब इन्द्र हम लोगों के समीप आये और हम दोनों से वर माँगने को कहा। मुझे तो संसार में सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय योद्धा बनने की वासना थी, अतः मैंने तो देवराज से वही अस्त्रों की प्राप्ति का वरदान माँगा और उन्होंने उसे पूरा करने का भी वचन दिया।

समस्त वरदानों के दाता उन श्यामसुन्दर से भी वरदान माँगने की भी धृष्टता देवराज ने की। भगवान् ने अमरों के अधिपति का तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने उसे डाँटा नहीं कि मैंने ही तुझे देवराज बनाया है और मुझसे ही ऐसी धृष्टता करता है, तू मुझे क्या वरदान देगा? यही नहीं उन्होंने इन्द्र के सम्मानार्थ एक ऐसा वरदान माँगा, कि उसे सुनते ही मेरे रोम-रोम खिल उठे। मेरी आँखों में आँसू आ गये। भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके मेरा हृदय भर आया। उसी दिन मुझे विश्वास हो गया, कि श्यामसुन्दर मेरा कभी भी परित्याग न करेंगे।

इन्द्र की वरदान देने की बात सुनकर भगवान् उनसे बोले—

"हे देवराज ! यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं, तो यह वरदान दीजिये, कि मेरी और अर्जुन की इसी प्रकार सदा प्रगाढ़ मैत्री बनी रहे ।"

राजन् ! यह भगवान् के कैसे अद्भुत वचन थे ? यह वरदान तो मुझे माँगना चाहिये था। आप्तकाम उन यदुनन्दन को किसी की मैत्री से क्या प्रयोजन ? संसार जिन लक्ष्मी के कृपा कटाक्ष के लिये व्याकुल रहता है, वह लक्ष्मी जिनके चरणों में सदा लोटती रहती हैं, और वे उनकी ओर दृष्टि उठा कर भी नहीं देखते, ऐसे उन श्रीपति की मैत्री के योग्य मुझ जैसा क्षुद्र प्राणी कैसे हो सकता है ? किन्तु उन्होंने अपनी शरणागतवत्सलता दिखाई, कि मैं अपने भक्तों की कृपा पाने को उसी प्रकार लालायित रहता हूँ जैसे बहुत बुभुक्षित भोजन के लिये, अत्यन्त पिपासित पुरुष पानी के लिये और घोर कामी, कामिनी के लिये उत्कण्ठित रहता है। राजन् ! उन्होंने यह बात मुँह से ही नहीं कही, किन्तु उसे जीवन भर निभाया। हमारे हित में वे सदा सावधानी से तत्पर रहते थे। जिसमें हमारा हित हो, उस काम को सभी उपायों से करते थे। किन्तु अन्त में उन्होंने मुझे धोखा दिया, स्वधाम जाते समय वे मुझ पापी को अयोग्य समझकर साथ नहीं ले गये, यहीं रोने के लिये छोड़ गये।"

छप्पय

राजन् ! अति कमनीय कृष्ण की अकथ कहानी।
प्रेमामृत में सनी सरस सुखदायक बानी॥
खांडव को करि दाह अग्नि भर पेट अघाये।
दोउनि कूँ वर देन देवपति दौरे आये॥
मैंने माँगे अस्त्र वर, माँगे हरि वर हिय भरे।
अर्जुन के सँग मित्रता, मेरी नित बढ़िबो करे॥

जरासन्ध वध के समय की कृपा का वर्णन

[५२]

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थे
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे त ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

राजसूय के समय सभी भूपति वश आये ।
जरासन्ध नहिं नम्यो आप अतिशय घबराये ॥
मगधेश्वर के दमन करन की युक्ति बताई ।
अभय करत वा समय श्याम सब कहें सुझाई ॥
राजन् ! अर्जुन भीम मैं, तीनिहु गिरि व्रज जायँगे ।
जरासन्ध कूँ युक्ति तें, मारि मगध तें आयँगे ॥

---

* विलाप करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—"जिस जरासन्ध मे दश हजार हाथियों का बल था, जिसके पादो को पूजनीय पाठ मानकर समस्त राजागण उसे शिर से प्रणाम करते थे, उसी को आपके छोटे भाई मेरे पूजनीय भाई—भीमसेन ने जिनके प्रभाव से उसका वध किया। जरासन्ध के द्वारा भैरव यज्ञ मे बलि दिये जाने के निमित्त बनाये हुए भूपतियों को जिन्होंने बन्धन मुक्त किया और सब आपके यज्ञ मे भाँति-भाँति की भेटें लेकर उपस्थित हुए। (वे ही श्यामसुन्दर हमें त्यागकर स्वधाम पधार गये)।"

शोक से व्याकुल हो जाने से, हृदय के भर आने से तथा वाणी के गद्गद हो जाने से जब आगे कुछ कहने में अर्जुन असमर्थ हो गये, तब धर्मराज बोले—"भैया अर्जुन! अरे, तुम चुप क्यों हो गये, भैया? अब हमें करना ही क्या शेष रह गया? अब केवल कृष्ण कथा ही का एकमात्र सहारा रह गया है। शास्त्रकारों का कथन है, कि ससारी सैकड़ों कार्यों को त्यागकर भोजन कर लेना चाहिये, हजारों आवश्यक कार्यों को छोड़कर स्नान कर लेना चाहिये। लाखों कार्यों को परित्याग करके दान देना चाहिये और सब कुछ छोड़कर–संसारी कार्यों के लाभ हानि की कुछ चिन्ता न करके हरिस्मरण श्रीकृष्ण चर्चा में लग जाना चाहिये। अब हमारा खाना पीना तो सब श्रीकृष्ण के साथ ही चला गया। अब तो किसी प्रकार निशा का अवसान हो, यह कालरात्रि किसी भाँति व्यतीत हो, तो हम आगे का अपना कर्तव्य निश्चित करें। जैसे धराधाम को त्यागकर श्रीपति स्वधाम को पधार गये उसी प्रकार आँखों को त्याग कर हमारी नींद भी चली गई। ये कर्ण ही इन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, जो कृष्ण कथा श्रवण के लिये अत्यन्त आकुल हो रहे हैं। अतः तुम श्रीकृष्ण कृपा के और भी कोई सुन्दर संस्मरण सुनाओ।"

धर्मराज की ऐसी बात सुनकर गाण्डीव धनुषधारी कुन्ती-नन्दन अर्जुन आँसू पोंछकर फिर कहने लगे—"राजन्! आप यह क्यों कहते हैं, कि सुन्दर से सुन्दर संस्मरण सुनाओ। उनके तो सभी संस्मरण सुन्दर से भी सुन्दर हैं, असुन्दरता की तो उनमें गन्ध नहीं। जैसे मिश्री में जिधर से भी मुँह मारिये सर्वत्र समान भाव से एक-सी ही मिठास पावेंगे। श्रीकृष्ण की सभी चेष्टायें सभी लीलायें, सभी कथायें, एक से एक बढ़कर सुन्दर हैं। संसार की सभी सुन्दरतायें उन्हीं श्यामसुन्दर से ही तो उत्पन्न हो रही हैं, अतः उनके सम्बन्ध में जो भी कुछ उलटा-सीधा,

सम्बद्ध, असम्बद्ध कहा जायगा—"सभी सुखकर, शान्तिप्रद मनोहर और हृदयहारी होगा। आश्चर्य तो मुझे इस बात का होता है, कि वे मायामोह से रहित अखिल भुवनपति हमारे हित में इसी प्रकार आसक्त होकर रहते थे, जैसे बड़े कुटुम्ब का अत्यन्त ममतापूर्ण वृद्ध अपने पुत्र पौत्रों के भरण-पोषण की चिन्ता में सदा मग्न रहता है। वे एकान्त में भी हमारा हित ही सोचते रहते थे। किस बात में पांडवों का कल्याण होगा, किस प्रकार धर्मराज संसार में सर्वश्रेष्ठ यशस्वी सम्राट् हो सकेंगे, उनकी चिन्ता के ये ही दो विषय रहते।

आप तो सब जानते ही हैं, नित्य प्रत्यक्ष देखते थे, वे आपको प्रसन्न करने के लिये कितने व्यग्र बने रहते थे? जब आपने सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञ करने का प्रस्ताव उनके सम्मुख उपस्थित किया, तो वे कितने हर्षित हुए थे। अत्यन्त आह्लाद के साथ उन्होंने कहा था—"राजन! जब मैं आपका सेवक उपस्थित हूँ, तब फिर आप ऐसी बातें क्यों करते हैं, राजसूय यज्ञ को तो वही सम्राट कर सका है, जो पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ हो। आपसे श्रेष्ठ कौन हो सकता है?"

आपके मन में जरासन्ध का खटका बना हुआ था। वह परम पराक्रमी असुर राजा रूप में अवनि पर प्रकट हुआ था। सभी राजा उसके नाम से थर-थर काँपते। उसने मूर्खतावश श्रीकृष्ण के ऊपर भी आक्रमण किया था और एक बार नहीं अठारह बार। उसी के अभिमान को बढ़ाने को भगवान् बन्धु बान्धवों सहित भागकर द्वारावती नगरी में आकर बस गये थे। इससे उसका अभिमान और भी अत्यधिक बढ़ गया था। वह संसार में अपने को सर्वश्रेष्ठ विजयी वीर समझे बैठा था। उसने यहाँ तक दुस्साहस किया, कि हजारों मूर्धाभिषिक्त राजाओं को भगवान् भूतनाथ के यज्ञ में बलि पशु बनाने के लिये बन्दी

बना रखा था। आपको यही सबसे बड़ी चिन्ता थी, कि इस इतने बड़े बलवान् भूपति के रहते मेरा राजसूय यज्ञ कैसे सम्पन्न होता है। आपकी चिन्ता को वे अन्तर्यामी भगवान् समझ गये। उन्होंने आपको सान्त्वना देते हुए मेघ गम्भीर वाणी में गरजते हुए बलपूर्वक कहा—"राजन्! आप तनिक भी चिन्ता न करें। मैं आपके शत्रु जरासन्ध को मरवा डालूँगा। आपके हृदय के कण्टक इस राजा को उसी प्रकार संसार से निकाल फेकूँगा, जिस प्रकार शल्य शास्त्र के ज्ञाता, शरीर में घुसे हुए काँटे को निकाल कर फेंक देते हैं। आप मुझे भीम और अर्जुन को दे दें।"

उनकी भक्तवत्सलता को स्मरण करके आप उस समय कितने रोये थे, अपने प्रेमाश्रुओं से उनके पीताम्बर को भिगो दिया था और हम दोनों को आपने उन्हें सौंप दिया था। जाते हुए मार्ग में हम कैसी-कैसी विनोद की बातें करते जाते थे। पहिले मुझसे ही बोले—"अर्जुन! भैया, जरासन्ध तो बड़ा बली है। उसे कैसे जीतेंगे? तुम ही कोई उपाय बताओ तुम उससे लड़ सकते हो?"

मैंने कहा—"आपकी आज्ञा होगी, तो उससे लड़ लूँगा। या तो उसे ही युद्ध में पछाड़ दूँगा या वही मुझे मार डालेगा।"

तब वे बालक की भाँति डरते हुए बोले—"ना, भैया! अरे देखो यदि तुम्हारा कुछ अनिष्ट हुआ, तो फिर मैं धर्मराज के सम्मुख किस मुँह से जाऊँगा? देखो भैया, वह बड़ा बलवान है, मैं तो उसी के डर से भागकर समुद्र के बीच में रहता हूँ। उसे पराक्रम द्वारा कोई परास्त नहीं कर सकता।"

तब मैंने कहा—"यदि ऐसा है, तो लौट चलिये। फिर आप उसके पास क्यों जा रहे हैं?"

तब बड़े अन्यमनस्क होकर वे बोले—"अरे भैया, लौटकर

अब कैसे चलें? धर्मराज का फिर राजसूय यज्ञ न हो सकेगा। आशा पर पानी फिर जायगा। वे दुखी होंगे। धर्मराज चिन्तित या दुखी हुए, तो फिर मेरा जीवन व्यर्थ है। मेरी सभी चेष्टायें धर्मराज की प्रसन्नता के ही निमित्त हैं।"

मैंने कहा—"आप यह कैसी नर लीला कर रहे हो? मुझे लड़ने की आज्ञा भी नहीं देते, उसके बल की भी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। अपने से भी उसे बलवान् समझते हैं, लौटकर जाना भी नहीं चाहते। धर्मराज का यज्ञ भी कराना चाहते हैं। पता नहीं चलता आप क्या करना चाहते हैं।"

फिर हमसे आप ही कहने लगे—"बिना परास्त किये, तो राजसूय यज्ञ हो नहीं सकता। भीमसेन तो उसे मार सकता है किन्तु उसमें अस्त्र कौशल भीम से अधिक है।" फिर भीमसेन से कहने लगे—"भीम! आज तुम्हारी परीक्षा है। तुम यदि जरासन्ध को न मार सके, तो सब तुम्हें पेटू कहेंगे, कि खाता तो इतना है, लड़ने के समय भीगी बिल्ली बन जाता है। भैया, हम दोनों तो बच्चे हैं तुम्हारे सामने। हम तीनों में तुम ही बड़े बूढ़े हो। तुम ही उससे भिड़ जाना।"

भीमसेन ने अभिमान के साथ कहा—"अच्छी बात है। तुम दोनों चुपचाप बैठ जाना, मैं ही उसे देख लूँगा। वह कैसा बली है।" इतना सुनते ही वे कितने खिलखिलाकर हँस पड़े। उनकी हँसी में कैसा माधुर्य था। जब वे किसी विनोद की बात पर बड़े जोर से हँसते थे, तो दिशायें गूँजने लगतीं, मुख से मानों मोती झड़ रहे हों। हँसते-हँसते वे दुहरे हो जाते, पृथ्वी में लोट जाते और सबको अपने अट्टहास से हँसा देते। बड़ी देर तक हँसते रहे और फिर बोले—"भैया, हम तो दूर खड़े होकर तुम लोगों की लड़ाई देखेंगे। जहाँ उसका पलड़ा भारी हुआ, कि हम तो फिर मुट्ठी बाँधकर भाग आवेंगे। उस

परम पराक्रमी का सामना करने की हममें तो सामर्थ्य है नहीं।"

भैया भीम ने ताना मारते हुए कहा—"बस तुम तो भागना ही सीखे हो। कभी तुमने लड़ाई भी की है। डरपोक संसार भर के। मैं बीच से फाड़कर उसके दो टुकड़े कर दूँगा। आप मुझे समझते क्या हैं?" यह सुनते ही वे बड़े प्रसन्न हुए। भीमसेन को छाती से लगा लिया और बोले—"महाबली भीमसेन! तुम अवश्य उसे मार दोगे। तुम्हारे बल भरोसे पर ही तो हम चल रहे हैं।"

राजन्! उन्हें किसका बल भरोसा था? करने कराने वाले तो वे ही थे। प्रत्येक काम में किसी को निमित्त बना लेते थे। भीमसेन को निमित्त बनाकर उन्होंने दस हजार हाथियों के बल वाले उस दैत्य रूपी राजा को बात की बात में मरवा डाला और उनके बन्दी-गृह में पड़े हुए हजारों राजाओं को बन्धनमुक्त कर दिया।

चिरकाल से कारावास की यातनाओं को सहते हुए दुर्बल बने वे राजा, अपने जीवन की आशा खो चुके थे। भक्तभयहारी जीवनाधार ने उन सबको जीवन दान दिया, उनका यथोचित स्वागत सत्कार किया। विचित्र वाहनों पर उन्हें अपने देशों को भेजते समय उनसे बार-बार समझा-समझाकर कह रहे थे—देखो, तुम सब धर्मराज के राजसूय यज्ञ में अपना उत्तम से उत्तम उपहार लाना।" किसी से कहते—"तुम्हारे यहाँ तो सुवर्ण की खान हैं, बहुत-सा सुन्दर सुवर्ण लाना, भला।" किसी से कहते—"तुम दस हजार हाथी, बीस हजार अच्छे घोड़े लाना।" किसी से कहते—"तुम्हारे यहाँ कम्बल, मृगचर्म, बाघम्बर बहुत होते हैं। तुम हजारों वाहनों में लदवाकर उत्तम-से-उत्तम छाँट-कर इन सब वस्तुओं को लाना।" राजन्! उस समय वे इसी

तरह सबको आज्ञा दे रहे थे, जैसे द्रव्य का लोभी राजा अपनी प्रजा पर भाँति-भाँति के कर लगाकर उनसे वस्तुएँ माँगता है।

उन सब राजाओं ने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और वे सभी आपके यज्ञ में भाँति-भाँति की भेंटें लेकर उपस्थित

हुए थे। सभी ने अपने मुकुटों की मणियों से आपके चरणों का चमत्कृत किया था। राजन् ! वे ही श्यामसुन्दर आज हम सबको अनाथ छोड़कर स्वधाम को पधार गये। यह पूरी वसुन्धरा विधवा हो गयी। यह सम्पूर्ण संसार मुझे शून्य-सा प्रतीत होता है। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कहाँ अपने प्रियतम को पाऊँ ?" यह कहकर अर्जुन फिर वस्त्र से मुख ढककर रुदन करने लगे।"

छप्पय

आज्ञा लैके चले साथ हम दोऊ लीन्हें।
छत्री बानों बदलि वेष विप्रन के कीन्हें॥
ज्येष्ठ बन्धु तैं भिड़ा दुष्ट मरवायो इनतें।
बन्दी भूपति मुक्त करे बोले हरि उनतें॥
धर्मराज के यज्ञ में, बहुत भेंट लै आउ सब।
वे ही हमरे हृदयधन, श्याम सिधारे धाम अब॥

द्रौपदी चीर हरण के समय की कृपा का वर्णन

[५३]

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक–
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः ॥*

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० १० श्लोक)

छप्पय

राजन् ! कहँ कहँ कहँ, करी हमरी रखवारी ।
दुष्ट फन्द में फसी, द्रौपदी प्रिया हमारी ॥
जिनमें छींटा राजसूय पय के शुभ लागे ।
खोले खींचे केश खलनि ने सबके आगे ॥
रोई अति ही दीन है, रक्षा नहिँ काहू करी ।
कृष्ण पुकारे करुण स्वर, कान भनक उनके परी ॥

---

* अर्जुन कह रहे हैं—"राजन् ! आपकी प्यारी पत्नी की वह पवित्र अलकावली जो राजसूय यज्ञ के समय महाभिषेक मन्त्रपूत जल के द्वारा भिगाई गई थी, उसे दुर्योधनादि दुष्टों की सम्मति से दुःशासन ने खोलकर भरी सभा में पकड़ा था । उस समय स्मरण करते ही श्रीकृष्ण वहाँ पधारे ! आँखों में अश्रु भरकर कृष्णा उनके चरण कमलों पर गिर पड़ी । उस विपत्ति से द्रौपदी को बचाया ही नहीं किन्तु उन दुष्टों की समस्त स्त्रियों को विधवा बनाकर सभी के केश खोल दिये । (वे ही श्यामसुन्दर हमें शोक सागर में निमग्न करके स्वधाम पधार गये) ।"

ऐसा दुःख सदा मिले, सबको मिले, जिसमें निरन्तर भगवत् स्मरण ही होता है। भगवान् के सम्बन्ध से हुआ दुःख, दुःख नहीं कहाता, वह तो परम सुख है। वृन्दावन बिहारी के सम्बन्ध की विरह व्यथा, विरह नहीं कहाती। वहे मानसिक घनिष्ट संयोग की जननी है। अविनाशी का तो कभी नाश होता नहीं, परोक्ष होता है—इन चर्म चक्षुओं से वे ओझल हो जाते हैं। जब बाह्य दृष्टि उन्हें देखने में असमर्थ होती है, तब प्रयत्न करके अन्तर्दृष्टि से उन्हें देखने की चेष्टा करते हैं। यही मोक्ष है, यही परमानन्द सुख है। अतः श्रीकृष्ण के सम्बन्ध का रुदन मोक्ष मार्ग का सोपान स्वरूप है।

अर्जुन ने जब जरासन्ध के वध के समय की हुई कृष्ण कृपा का वर्णन किया, तब तो धर्मराज भी अत्यन्त गद्गद हो गये। वे रोते-रोते बोले—"अर्जुन! तुम इन बातों को सुना-सुनाकर ही मुझे मरने से रोक रहे हो। तुम कथा क्या कह रहे हो, मेरे कानों में अपनी मुख रूपी पिचकारी द्वारा हृदय तक सञ्जीवनी रस पहुँचा रहे हो। मुख रूपी पात्र में भरकर कान रूपी मेरे कंठ में अनुपम अमृत उड़ेल रहे हो। जब तक तुम इसी प्रकार मधुमय, आनन्दमय, जीवन सारमय कथारस पिलाते रहोगे, तब तक मेरा हृदय फटेगा नहीं, मेरी चेतना विलुप्त न होगी, मैं संज्ञा शून्य न बनूँगा। हाँ, तो और सुनाओ मेरे प्यारे बन्धु! मुझे बचाना चाहते हो तो कथा के तार को मत तोड़ो।"

धर्मराज के ऐसे वचन सुनकर अर्जुन ने आँखें पोंछी। अपने प्रिय के सम्बन्ध में कहने में हृदय स्वयं भी हर्षित होता है। अतः अर्जुन भी यही चाहते थे, कोई अव्यग्र चित्त से सुनने वाला हो, तो मैं युगयुगान्त तक इसी प्रकार श्यामसुन्दर के सुखद संस्मरण का कथन करता रहूँ। अपनी ही भाँति धर्मराज तथा अन्य उपस्थित सभी बन्धु-बान्धवों को कृष्ण कथा श्रवण में व्यग्र

समझकर अर्जुन कहने लगे—"एक बात हो तो उसे कहूँ भी। उनकी तो इतनी अनन्त कृपा है, कि किसी भी प्रकार उनका अंत संभव नहीं। एक सच्चे सेवक की भाँति स्वामिभक्त भृत्य की तरह वे सदा हमारी, हमारे परिवार की, हमारी पद प्रतिष्ठा तथा राज्य की रक्षा करते रहते थे, जहाँ स्मरण किया नहीं कि उपस्थित हुए नहीं। उनका उपस्थित होना उपचार मात्र है। वे तो सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घट में सामान्य रूप से व्याप्त हैं, न उनका कहीं से आना न कहीं अन्यत्र जाना। जहाँ भक्तों ने प्रेम से पुकारा वहीं उसी क्षण प्रकट हो गये। किन्तु हम सबके हृदय में तो प्रेम भी नहीं था। हम प्रेम शून्यों के सम्मुख तो अपनी मात्र अहैतुकी कृपा के ही कारण वे प्रकट होते थे।

"आपके राजसूय यज्ञ के अतुल वैभव को देखकर दुष्ट को अपार ईर्ष्या हुई। दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम हो गया। वह आपके ऐश्वर्य दर्शन की ईर्ष्या से दुखित और दृष्टिहीन बन गया। सब दुष्टों ने मिलकर द्यूत-सभा की रचना की। धृतराष्ट्र को भी समझा बुझाकर उन्होंने अपने पक्ष में कर लिया। आपको भाइयों सहित जुआ खेलने को निमन्त्रित किया। धर्मानुसार आप उनके आह्वान करने पर हम सबको साथ लेकर इन्द्रप्रस्थ से हस्तिनापुर गये और जुए में अपना सर्वस्व तथा द्रौपदी जी को भी हार गये। दुर्योधन के मामा शकुनी उसके भाई दुःशासन तथा कर्ण इन सभी ने भाँति-भाँति के छल बल करके आपको पराजित कर दिया और उत्तेजित करके द्रौपदी को भी दाँव पर लगवा दिया। हम सब भाइयों को भी आप हार गये, द्रौपदी भी उनकी नियमानुसार जीती हुई दासी बन गई। अब उन्हें अपनी ईर्ष्या बुझाने का अच्छा अवसर मिला। अब उन्होंने आपको अपमानित करने को घृणित-से-घृणित कार्यों को करना आरम्भ कर दिया।

संसार में इतना बड़ा पाप कोई कर सकता है क्या ? स्त्रियाँ सदा अवध्या बताई गई हैं। किसी जाति की भी स्त्री हो, अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसके सतीत्व की रक्षा करनी चाहिये। कैसी भी स्त्री क्यों न हो, उसका सबके सामने अपमान न करना चाहिये। किसी भी वर्ण की नारी दुःख में फँसी हो, तो उसे सब प्रयत्न करके दुःख से निकालना चाहिये। ऐसा शास्त्रकारों ने बार-बार कहा है।

कोई इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता, कि राजा होकर कोई अपने घर का—अपने ज्येष्ठ भाई की पत्नी—नहीं, नहीं, राजरानी को—जिसने अपने पति सम्राट् के साथ बैठकर राजसूय यज्ञ की दीक्षा ली हो, जिसने हाथ में हरिन का सींग लेकर पति के साथ सर्वश्रेष्ठ यज्ञ के कठिन नियमों को साधा हो—उस देव वन्दिता राजमहिषी की लज्जा को सबके सम्मुख हर सके, भरी सभा में उसका अपमान कर सके। ऐसा तो क्रूरकर्मा राक्षस भी नहीं करते। दैत्य दानव भी अपने कुल की स्त्रियों का सदा आदर करते हैं और उनकी लाज को अपनी लाज समझते हैं। उस द्यूत सभा में सभी ने ऐसा घोर पाप किया जिसके स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस समय सभी की बुद्धि पर परदा पड़ गया था, सभी कुलागत धर्म को भूल गये थे, सभी ने सदाचार को तिलांजलि दे दी थी। दुष्ट दुर्योधन ने अपने अनुज दुःशासन को आज्ञा दी कि द्रौपदी को भरी सभा में ले आओ।

उसकी ऐसी क्रूर अनुचित आज्ञा सुनकर हम सब तो सन्न रह गये। हम अपना कुछ कर्तव्य ही न कर सके। आप धर्मपाश में बँधे उस समय निश्चेष्ट बैठे थे। वह क्रूरकर्मा दुःशासन भीतर जाकर उसने उस राजरानी के वे काले कुञ्चित, कमनीय केश पकड़े, जो राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के समय महाभिषेक के

मन्त्रपूत जल से अभिषिक्त किये गये थे। जिन्हें स्वच्छन्द चारी पक्षी गगन-विहारी भगवान् भुवन भास्कर प्रयत्न करने पर भी नहीं देख सकते थे। पाश में फँसी हरिणी के समान आपकी प्यारी पत्नी बहुत रोई, बिलबिलाई। उसने दीनता के साथ उस दुष्ट से दया की भीख माँगी। पैर पकड़के उसने कहा—"देवरजी! ऐसा पाप मत करो। मैं इस समय एक वस्त्रा हूँ, रजस्वला हूँ, सबके सम्मुख जाने योग्य नहीं हूँ। मेरा अपमान न करो, मेरी लाज मत लो, मुझे वाराङ्गनाओं की भाँति सभा में मत ले चलो। मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, पैरों पड़ती हूँ। मैं और कोई नहीं, तुम्हारे बड़े भाई की पत्नी हूँ।" किन्तु उस दुष्ट ने एक भी बात न मानी, उसकी अनुनय-विनय पर कुछ भी ध्यान न दिया और अपमानपूर्वक बालों को खींचता हुआ, चोटी पकड़ लाया।

उस समय सभी सभा रो रही थी। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता था। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र सभी गुरुजन मौन थे। द्रौपदी बार-बार कातर दृष्टि से भयभीत हरिणी की भाँति आपकी ओर देख रही थी, किन्तु आप उसकी ओर देखते भी नहीं थे। सभासदों ने आँखें नीची कर लीं, द्रौपदी की आँखों से अग्नि की चिनगारियाँ निकल रही थीं, किन्तु वह आपके शीतल मुख को देखकर ही शान्त-सी हो जाती। उसने सम्पूर्ण अधर्म सभा को उसी समय भस्म नहीं किया, वह आपको निहारती, हम आपका मुँह जोहते, आप धर्म को टटोलते। धर्म अधर्म पर उतारू था, वह सच्चरित्रा, धर्मशीला द्रौपदी की रक्षा करने में असमर्थ-सा प्रतीत होता।

जब वह सभी ओर से निराश हो गई, किसी से अपनी रक्षा की आशा दिखाई न दी, तब उसने अशरण शरण दीनबंधु को पुकारा। रोकर, आँसू बहाकर, दीनता के साथ उसने टेर लगाई—"हा श्यामसुन्दर! कहाँ चले गये, हे नाथ! रक्षा करो

प्रभु ! दुष्ट मेरी लाज लेने पर उतारू है। हे भक्तभय भंजन ! भगवान् ! मेरे भय को क्यों नहीं भगाते, क्यों नहीं इन दुष्टों को यमपुर पठाते ? हे प्रभो ! तुम्हारी दासी कहलाकर यदि मेरी लाज गई, तो इसमें मेरी हँसी नहीं, तुम्हारी ही हँसी है ! हे अशरण शरण ! सब ओर से हताश होकर मैं तुम्हारी ओर आई हूँ।"

राजन् ! उस समय भगवान् स्मरण मात्र से ही वहाँ दौड़े आये। सभी को उनके घनश्याम रूप के दर्शन नहीं हुए। वहाँ उन्होंने अपना एक अद्‌भुत अवतार प्रकट किया। उस समय वे नील वर्ण त्यागकर विविध वर्ण के बन गये। उस समय अण्डज, पिण्डज, उद्‌भिज, स्वेदज, आदि शरीरों को त्यागकर उन्होंने वसन रूप धारण कर लिया। अपनी चेतनता से जड़ को चैतन्य

ज्यों द्रौपदी की साड़ी को खींचता जाता था, त्यों-त्यों वह बढ़ती जाती। उसमें से चित्र-विचित्र रंगों की सुन्दर-से-सुन्दर साड़ियाँ एक ही सूत्र में सटी हुई निकलती जाती थीं। वह द्रौपदी को वस्त्रहीन करना चाहता था किन्तु स्वयं ही वह बलहीन बन गया। साड़ी को उतारकर वह महाराज पाण्डु की पुत्रवधू, हमारी प्यारी पत्नी और द्रुपद की दुलारी दुहिता को नग्न करने पर उतारू था। किन्तु इस चमत्कार को देखकर उसका मद उतर गया। वह लज्जित होकर बैठ गया। सभा स्तब्ध रह गई। वे विचित्र वसन, भरी सभा में ऐसे ही शोभित होते थे, मानों आकाश में असंख्यों इन्द्रधनुष परस्पर में सटकर एक साथ ही उदय हुए हों। वस्त्र विक्रेता व्यापारी की वृहद् दुकान के समान वह सभा दिखाई देती थी। उनमें रोती हुई कृष्णा कृष्ण की प्रत्यक्ष झाँकी कर रही थी। सभा में सहसा कृष्ण आ गये। अब उनके पाद पखारने को पाद्य के लिये जल कहाँ से लावे। अतः उसने अपने अञ्जन मिश्रित नेत्र जल से जलद के समान सुन्दर साँवले अरुण तल वाले पादपद्मों को पखारा। उस समय सान्त्वना देते हुए श्यामसुन्दर अपनी सखी कृष्णा से बोले—"देवी! अब तुम अपने खुले हुए केश पाशों को कसकर बाँध लो। अब तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं, अब तो मैं आ गया।"

रोते-रोते कृष्णा ने कहा—"श्यामसुन्दर! अब तो वे केश खुल गये। खुल गये सो, खुल गये। हाथी के दाँत बाहर निकले सो निकल गये। कुलीन कन्या का एक बार कन्यादान हुआ सो हो गया। दूध एक बार फटा सो फट गया। मोती एक बार टूटा सो टूट गया। वस्त्र एक बार फटा सो फट गया। जिस प्रकार ये सब फिर अपने पूर्व रूप को धारण नहीं कर सकते उसी प्रकार जिन केश पाशों का स्पर्श दुष्टों ने अपने कलुषित करों से किया है, वे फिर उसी प्रकार सौभाग्य चिह्न से चिह्नित होकर

वेणी रूप में नहीं बँध सकते।"

तुम्हारी पत्नी की ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर श्यामसुन्दर मुस्कराये और बोले—"देवि ! किसी प्रकार ये केश पुनः इसी प्रकार बँध सकते हैं ? मुझे तुम्हारे ये खुले केश भले नहीं मालूम होते। मैं तो इन्हें एक साथ बँधे हुए नागिन की भाँति लहराते देखना चाहता हूँ। मैं तो वेणी प्रिय हूँ। इसीलिये मेरा एक नाम वेणीमाधव है। इन खुले केशों की जिस प्रकार वेणी बन सके वह उपाय मुझे बताओ। जिस कार्य के करने से तुम्हारे ये कुटिल काले केश बँध सकें, उस उपाय को मुझे बता दो।"

इस पर द्रौपदी बोली—"प्रभो ! अब तो वे केश तभी बँधेंगे, जब इन्हें खींचने वालों की पत्नियाँ विधवा बनकर इसी प्रकार केश खोलकर रोवेंगी। जिन हाथों ने इन्हें खींचा है, वे हाथ समस्त बन्धुबान्धवों के साथ निर्जीव होकर कटकर पृथ्वी पर गिरेंगे, तभी यह वेणी बँधेगी। जिन्होंने इन केशों को खींचा है, उनके शव को जब कुत्ते सियार खींचेंगे तभी ये फैले हुए बाल सिमिट कर इकट्ठे होंगे। जिन्होंने इन पवित्र केशों को नोंचा है, जब उनके मृत शरीर को कङ्क गृद्ध नोचेंगे तभी इनमें बन्धन की डोरी डाली जायगी।"

क्रोधित हुई कृष्णा के ऐसे कठोर दृढ़ वचन सुनकर श्यामसुन्दर उसे सान्त्वना देते हुए बोले—"पांडवों की प्यारी पत्नी ! द्रुपदकुमारी ! तुम घबराओ मत। ऐसा ही होगा। मैं तुम्हारे शत्रुओं का संहार करके उनके समस्त कुलों का नाश कराकर उनकी पत्नियों के केश खुलवा दूँगा और तुम्हारी वेणी को फिर से बँधवा दूँगा। देवि ! मैंने न कभी आज तक असत्य भाषण किया है न आगे करूँगा ही।"

महाराज ! उसी समय कौरवों का अन्त हो गया था। उनकी समस्त श्री नष्ट हो गई थी। वे मृत तुल्य बन गये थे। श्रीकृष्ण ने

उस समय हमारी धर्म की वृद्धि के लिये, जगत् में हमारी पावनता और प्रसिद्धि स्थापित करने के निमित्त ही कौरवों को नहीं मारा यदि वे चाहते तो उसी समय समस्त ब्रह्माण्ड को भस्म कर डालते, किन्तु वे तो हमें धर्म में स्थित कराकर हमारे ही हाथ से सबका संहार कराने वाले थे, उन्होंने ऐसा ही किया। द्रौपदी की प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन कराया, जो कहा था उसे कर दिखाया। समस्त कौरवों की पत्नियों को विधवा बनाया और द्रौपदी से अपने सामने ही फिर से केशपाश बाँधने का आग्रह किया।

उनकी कृपा की कहाँ तक प्रशंसा करूँ, किन शब्दों में उनका वर्णन करूँ? मैं निश्चिन्त था, कि मेरे सिर पर श्यामसुन्दर का हाथ है। घनश्याम की शीतल छत्र छाया है, किन्तु आज वह छाया न जाने कहाँ विलीन हो गई? अपने सिर पर अब वह साँवरा, सलौना सुहावना कर कमल दिखाई नहीं देता। अब मैं निस्सहाय हो गया। अब मैं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हूँ। मेरी समस्त चातुरी चली गई। मेरा समस्त पराक्रम प्रभु के पधारते ही समाप्त हो गया। राजन्! द्रौपदी चीर रक्षा करने वाले, उसके केशपाशों को सिर से बाँधने वाले वासुदेव न जाने कहाँ विलीन हो गये। हाय! अब मैं उनका पुनीत प्यार कब पाऊँगा, उनके पादपद्मों में प्रणत होकर मस्तक कब झुकाऊँगा।" इतना कहते-कहते अर्जुन ढाह मारकर रोने लगे।"

छप्पय—*भरी सभा में आइ चीर कूँ अक्षय कीन्हों।*
दुखित दयानिघ भये, दंड दुष्टनि कूँ दीन्हों॥
जिन कच खींचे वधू बनीं विधवा उन सबकी।
खोलें डोलें केश, प्रतिज्ञा पूरी तबकी॥
सदा दुखी दुख में रहे, सुखी सबनि सुख दे भये।
किन्तु अकेले अन्त में, तनु तजि निजपुर चलि गये॥

दुर्वासा के शाप से बचाने वाली कृपा का वर्णन

[५४]

यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग् यः ।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥*

(श्री भा० १५ स्क० १ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

मूर्तिमान जो कोप तपस्वी दुर्वासा मुनि ।
शाप दिवावन शत्रु पठाये बन वैभव सुनि ॥
अक्षय रवि को पात्र खाइ मलि कृष्णा निबटी ।
अतिथि भये ले शिष्य सबनि चित चिन्ता चिपटी ।।
दुःख में, सुख में, शोक में, हैं जाकी गोविन्द गति ।
श्याम पुकारे करुणस्वर, भई द्रौपदी दुखित अति ॥

---

* अर्जुन कह रहे हैं—"हजार शिष्यों के साथ भोजन करने वाले, क्रोधी दुर्वासा ऋषि हमारे शत्रुओं के बहकाने से द्रौपदी के भोजन के अनन्तर वन मे हमारे अतिथि बने । उस महान् कष्ट से जिन्होंने वन में पधारकर बटलोई मे लगे तनिक से शेष रहे शाक को खाकर समस्त त्रिलोकी को तृप्त कर दिया ? इससे जल मे स्नान करते हुए समस्त मुनि भी तृप्त होकर चले गये । उस समय जिन्होंने हमारी रक्षा की वे शरणागत रक्षक श्यामसुन्दर सदा के लिये हमें छोड़ गये ।"

समीप में रहने से प्रेमी के प्रेम का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना उसके परोक्ष में पड़ता है। मनुष्य गुण की परिस्थिति में ही प्रकट होते हैं। राजसूय यज्ञ करने का धर्मराज का दुष्कर मनोरथ था, वह भी श्रीकृष्ण कृपा से पूर्ण हुआ। जब दुष्टों ने छल से उनका राज्य हर लिया, द्रौपदी को दासी बना लिया और उसे भरी सभा में विवस्त्रा करने का प्रयत्न करने लगे, तो कृष्ण ने आकर उसकी लाज बचाई। इस बात का स्मरण आते ही धर्मराज को अपने वनवास की सभी बातें स्मरण हो आईं। वे अर्जुन से बोले—"अर्जुन! श्रीकृष्ण ने हमारी सर्वत्र रक्षा की। वनवास के समय हमारे सभी सम्बंधियों ने हमें त्याग दिया था, एक श्रीकृष्ण ही ऐसे थे, सदा जो वन में जाकर भी हमें धर्मोपदेश देते, तीर्थव्रत बताते, धर्म की सूक्ष्म गति समझाते, हमें भाँति भाँति से ढाँढ़स बँधाते और हमें पुनः राज्य प्राप्ति का विश्वास दिखाते। हम पर जहाँ भी कोई विपत्ति पड़ी, स्मरणमात्र से ही वे दौड़े आते। वनवास का कोई प्रसंग सुनाओ भैया! इन कथाओं से मेरा शोक कुछ कम हो रहा है। चित्त में कुछ धैर्य बँध रहा है।"

वनवास का प्रसंग चलाते ही अर्जुन की दोनों आँखें फिर भर आईं। वस्त्र से उनमें के अश्रुओं को पोंछकर अर्जुन कहने लगे—"राजन! वनवास में तो पग-पग पर उन प्रभु की कृपा का अनुभव होता था। यद्यपि वे शरीर से द्वारावती में रहते थे, किन्तु मन से सदा समीप ही बने रहते। जहाँ किसी विपत्ति की सम्भावना हुई, तुरन्त वहाँ वे सशरीर प्रकट हो जाते और हमें बड़ी-से-बड़ी विपत्ति से बात की बात में बचा लेते। दुर्योधन ने जब देखा, जीते हुए राज्य और धन को तो धृतराष्ट्र ने पुनः इन पांडवों को लौटा दिया तब उसने एक कुटिल चाल चली। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास का दाँव लगाकर

फिर से जुआ खेला गया। जो हारे उसे बारह वर्ष सर्वस्व त्याग कर वनवास करना पड़े. अन्त में एक वर्ष छिपकर अज्ञातवास करे। अज्ञातवास के समय में यदि प्रकट हो जाय, तो फिर से उसे १२ वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करना पड़े। इसी प्रकार अज्ञातवास का नियम सर्वदा बना रहे।

ऐसा दाँव लगाने से उसका अभिप्राय हमें सदा राज्य-पाट भ्रष्ट करके वनवासी बनाने का ही था। आपने यह स्वीकार किया, अंत मे आपकी हार हुई। दुर्योधन ने चीर वस्त्र पहिनाकर द्रौपदी के सहित हम सबको राज्य से निकाल दिया। उस समय सहस्रों वेदपाठी ब्राह्मण आपके पीछे पीछे हो लिए। हाथ जोड़ कर आपने उन सभी ब्राह्मणों से कहा था—"हे भूदेव! मैं जब समर्थ था, तब सदा यथाशक्ति आपका स्वागत सत्कार करता रहा, अब मैं राज्य भ्रष्ट हो गया हूँ अब मुझे अपने ही आहार की चिन्ता करनी होगी। अतः अब आप सब लौट जायं और दुर्योधन का आश्रय जाकर ग्रहण करें। वह आपकी जीविका का प्रबन्ध करेगा, मेरी ही तरह आप सबकी सेवा सुश्रूषा करेगा।"

आपकी ऐसी बात सुनकर वे ब्राह्मण विनीत भाव से बोले—"राजन्! हम दुष्ट दुर्योधन के आश्रय में कभी न रहेंगे। हमें जीविका की चिन्ता नहीं। हम स्वयं वनों से कन्दमूल फल लाकर-भिक्षा करके-अपना निर्वाह कर लिया करेंगे। आपको हमारे आहार की चिन्ता न करनी होगी। हम तो आपके धर्माचरण से सन्तुष्ट हैं। आपके धर्म प्रेम के वशीभूत होकर ही हम आपको छोड़ना नहीं चाहते, जो आपकी गति होगी, वही हमारी। आप हमारा परित्याग न करें।"

इस पर आपने यही कहा था—"विप्रो! मैं स्वेच्छा से आपका त्याग नहीं कर रहा हूँ। भरण-पोषण में असमर्थ होने के कारण ही मैंने आपसे ऐसी प्रार्थना की। मेरे रहते आप भिक्षा

को जायँगे, कन्दमूल फलों की चिन्ता करेंगे, तब तो मेरा जीना ही व्यर्थ है। मेरे क्षत्रिय होने को धिक्कार है। अच्छी बात है, कोई दूसरा उपाय सोचूँगा।"

यह कहकर आपने उन सबको सान्त्वना दी। भगवान् भुवन भास्कर की आराधना से और श्रीकृष्ण कृपा से आपको एक ऐसा अक्षय पात्र प्राप्त हुआ कि जब तक द्रौपदी भोजन न कर ले, तब तक उसमें से इच्छानुसार चाहे जितने भोज्य पदार्थ निकालते रहें, चाहे जितने मनुष्यों को भोजन कराया जाय, किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ेगी। उस पात्र को पाकर आपको परम प्रसन्नता हुई। उसी के पदार्थों से आप देव, ऋषि और पितरों का कार्य करते हुए सहस्रों ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करते हुए, असंख्यों मनुष्यों को भोजन कराते हुए, वन में भी आप इन्द्रप्रस्थ की भाँति रहने लगे। सर्वत्र आपके आतिथ्य की ख्याति फैल गई। सर्वत्र आपका गुणगान होने लगा। राज्य से भी अधिक प्रतिष्ठा और कीर्ति श्रीकृष्ण कृपा से आपकी वन में हो गई। अब तो शत्रुओं के हृदय में पीड़ा होने लगी। वे आपके वन में ऐसे वैभव को देखकर व्याकुल हो उठे। किन्तु करते भी क्या? हमारे सामने लड़ने का उन्हें साहस नहीं था। जुआ अब खेल नहीं सकते थे। हम भाइयों में फूट डाल नहीं सकते थे। वे हमारे उत्कर्ष से जलने लगे और हमारे नाश का उपाय सोचने लगे। इतने में ही क्रोध के अवतार, शाप के भंडार, परमतेजस्वी महामुनि दुर्वासा हस्तिनापुर आ पहुँचे। उनके पधारने से उन लोगों को प्रसन्नता हुई। उन्हीं का उन लोगों ने अपने कार्य सिद्धि का निमित्त बनाना चाहा।

महामुनि दुर्वासा ने अपने सहस्रों शिष्यों के साथ हस्तिना-पुर में चातुर्मास्य व्रत आरम्भ किया। वे दुर्योधन की परीक्षा लेने लगे, उसे खरी खोटी सुनाने लगे, असमय में भोजन माँगने

लगे। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन को अखाद्य बताने लगे। सेवकों को डाँटने डपटने लगे। जो भी उनके विपरीत आचरण उन्हें दिखाई दिया, कौरवों को कुपित करने को वे उसी को करने लगे, किन्तु दुर्योधन तो बड़ा सावधान था। वह तन, मन, धन से समस्त शक्ति लगाकर मुनि की सेवा करने लगा। उन्हें प्रसन्न करने को उसने कुछ भी उठा न रखा। मुनि जो भी उचित, अनुचित, अनुकूल, प्रतिकूल, सामयिक, असामयिक आज्ञा देते, वह तुरन्त उसका पालन करता। उनके विपरीत एक शब्द भी न कहता। वे जो भी कहते उसी के लिये हाथ जोड़कर 'हाँ' कह देता। इस प्रकार अपनी अलौकिक सहन शीलता से उसने कभी सन्तुष्ट न होने वाले मुनि को सन्तुष्ट कर लिया। दुर्वासा ऋषि उनकी सेवा, सहन-शीलता से प्रसन्न होकर बोले—"राजन्! आपने मेरे मन के विपरीत कुछ भी आचरण नहीं किया, अनुचित और प्रतिकूल बात पर भी क्रोध नहीं किया, अतः मैं आपके ऊपर सन्तुष्ट हूँ। आप मुझसे जो भी कठिन-से-कठिन वरदान माँगना चाहेंगे, वह मैं आपको दूँगा। आपको जो कार्य प्रिय हो, उस कार्य को मैं आपकी प्रसन्नता के लिये करूँगा।"

दुर्योधन को तो धन ऐश्वर्य की तो कुछ कमी ही नहीं थी। उसके मन में तो हम ही पाँचों भाई पाँच काटों की तरह खटक रहे थे। हमारे विनाश से उसे जितनी प्रसन्नता होती उतनी त्रैलोक्य के राज्य पाने से भी नहीं हो सकती। दुष्टों को प्रसन्नता पराये सुख के नाश से ही होती है। उसने अत्यन्त ही विनीत भाव से मुनि के चरणों में प्रणाम किया और कपट भरे वचन उनसे बोले।

दुर्योधन कहने लगे—"आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिये लाखों वरदानों से बढ़कर है। मेरी सेवा से आपको सन्तोष हुआ, इसी प्रसन्नता के प्राप्त होने से मुझे समस्त वरदान मिल

गये। फिर भी आप मुझसे वर माँगने को आग्रह ही करते हैं, तो मैं यही वरदान माँगता हूँ, कि जिस प्रकार आपने मेरे ऊपर कृपा की है, उसी प्रकार अपने समस्त शिष्यों के सहित हमारे बड़े भाई युधिष्ठिर के ऊपर भी कृपा करें। वे हमारे कुल में सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। वे धर्मात्मा हैं। आजकल धर्मपाश में बँधे होने के कारण वे वनवास कर रहे हैं। वहाँ भी वे असंख्यों मनुष्यों को भोजन देकर सन्तुष्ट करते हैं। आप जाकर उनके अतिथि बनें और जैसी परीक्षा आपने मेरी ली है, उसी प्रकार उनकी भी लें।"

दुर्वासा मुनि तो इसके लिये उधार खाये ही बैठे रहते थे उन्होंने कहा--"अच्छी बात है, हम अभी जाते हैं। हम धर्मराज का आतिथ्य अवश्य ग्रहण करेंगे।"

दुर्योधन के हृदय में तो पाप बस रहा था। वह तो बुरी भावना से मुनि को भेज रहा था। मुनि को कुपित कराके शाप से भस्म कराने का उसका षडयन्त्र था। अतः वह कहने लगा—"भगवन्! ऐसे नहीं। आप उस समय उनके यहाँ पहुँचें जब द्रौपदी भोजन कर चुके। जाते ही आप तुरन्त भोजन माँगें।"

दुर्वासा तो प्रसन्न ही थे। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया। दुर्योधन सोचता था—"द्रौपदी के भोजन कर लेने पर तो उस सूर्यदत्त अक्षय पात्र से उस दिन कुछ भी पदार्थ न निकल सकेंगे। ऋषि दूसरे दिन तक की प्रतीक्षा करेंगे नहीं, तुरन्त भोजन माँगेंगे। उस घोर वन मे धर्मराज सहस्रों मनुष्यों का भोजन क्षण भर में कैसे जुटावेंगे। तुरन्त भोजन न मिलने पर क्रोधावतार दुर्वासा कुपित होंगे और शाप देकर पांडवों को भस्म कर देंगे। इस प्रकार अनायास ही शत्रुओं का नाश हो जायगा। 'साँप मरे न लाठी टूटे'-अपनी अपकीर्ति भी न होगी, हमारे हृदय के कांटे भी निकल जायँगे, जिससे निष्कण्टक होकर

हम पृथ्वी के सम्राट् बन जायँगे।" यही सब सोच समझकर उसने दुर्वासा मुनि को भेजा था।

उस दिन जाने क्या पर्व था, सहस्रों ऋषि मुनि तथा विप्रों को भोजन कराके अन्त में द्रौपदी ने भोजन किया। उस अक्षय पात्र को मलकर ज्यों ही द्रौपदी निबटी त्यों ही शिष्य मण्डली के सहित मुनि आ धमके। आपने उनकी यथोचित पूजा की और भोजन के लिये प्रार्थना की। वे तो आये ही इसलिये थे। अतः वे बोले—"हाँ, राजन्! हमें बड़ी भूख लग रही है। आप अत्यन्त शीघ्र रसोई तैयार कराइये, हम मध्यान्ह सन्ध्या करके अभी आते हैं। तब तक सबके लिये प्रसाद तैयार हो जाय।"

इतना कहकर मुनि बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही सरोवर में स्नान करने चले गये।

उस समय आप कितने चिन्तित थे? हमने समझ लिया था कि अब तो ऋषि के दारुण शाप से सबको भस्म होना पड़ेगा। सहस्र-सहस्र मुनियों को घड़ी भर में किन पदार्थों से हम तृप्त कर सकेंगे, किन सामग्रियों से उनका आतिथ्य सत्कार कर सकेंगे? हमें सबसे अधिक चिन्ता थी द्रौपदी की। वही गृह की स्वामिनी थी, गृहलक्ष्मी पर ही आतिथ्य का भार विशेष होता है। आये हुए अतिथियों को सब प्रकार से खिला-पिला कर सन्तुष्ट करना महिलायें ही विशेष जानती हैं। वह भोजन न करती, तब तो चाहे लाखों अतिथि आ जाते, उसे कोई चिन्ता ही नहीं थी, किन्तु वह तो भोजन कर चुकी थी। अक्षय पात्र की सिद्धि तो उस दिन के लिये समाप्त हो चुकी थी। यदि कोई साधारण सौम्य ऋषि मुनि होते, तो उनके पैर पकड़ कर अपनी सब स्थिति समझाई भी जा सकती थी, किन्तु वहाँ तो पाला पड़ा था दुर्धर्ष दुर्वासा मुनि से। उनको समझाना-

बुझाना, अपनी स्थिति बताना सब व्यर्थ था। उनकी इच्छा के जहाँ तनिक भी विरुद्ध हुआ कि उसी प्रकार वे शाप उगल देते हैं, जैसे सर्प भूल से भी पैर पड़ने पर, दाढ़ों में लगी विष की थैली से विष उगल देता है। द्रौपदी को अब अन्य कोई उपाय न सूझा। 'निर्बल के बल राम'—उसने आर्त होकर आरतहरि को पुकारा। दुखित मन से द्वारिकाधीश की शरण में गई। उसने आँखों में आँसू भरकर गद्गद कण्ठ से रोते हुए पुकारा—"हे श्यामसुन्दर! मेरी माँग के सिंदूर की रक्षा करो। मेरी चूड़ियों को अक्षय बना दो। मुझे विधवा बनाने से बचा लो। मेरे पतियों पर आई हुई विपत्तियों को भगा दो! क्रोधी मुनि असन्तुष्ट होकर शाप न दे दें। ऐसी कोई युक्ति निकाल लो। हे अशरण शरण! तुम तो मेरी एकमात्र गति हो, बड़ी-बड़ी भयङ्कर विपत्तियों से हे भयभंजन! आपने हमें बचाया है, किन्तु यह विपत्ति तो सबसे भयंकर है। विप्र शाप से दग्ध हुए पुरुषों का परलोक भी बिगड़ जाता है, इस लोक में भी अपकीर्ति होती है। आपके भक्त कहाने वाले मेरे पतियों की आपके रहते हुए ऐसी दुर्दशा हो, यह तो आपके लिये भी लज्जा की बात होगी, आपकी भक्तवत्सलता पर धब्बा आवेगा। हमारा राज्य छिन गया, घर-द्वार हीन होकर वन-वन भटक रहे हैं, इसकी हमें चिन्ता नहीं, किन्तु हमें इस विपत्ति से बचा लो।" द्रौपदी इस प्रकार रुदन कर ही रही थी, कि उसे श्यामसुन्दर के पदों की आहट सुनाई पड़ी। सामने से पीताम्बर धारी बनवारी पैदल ही आते हुए दिखायी दिये। अपने अश्रुओं से भरे दोनों अरुण नेत्रों से कमलनयनी कृष्णा ने उन्हें अर्घ्य दिया। उनके दोनों चरण भिगो दिये। अत्यन्त व्यग्रता दिखाते हुए वे मदन मोहन द्रौपदी से बोले—"द्रौपदी! मुझे बड़ी भूख लग रही है, कुछ खाने को हो तो दे।"

द्रौपदी रो पड़ी और प्रेम के स्वर में बोली—"रहने भी दो तुम्हें हर समय उपहास ही सूझता है। कुछ घर में खाने को ही होता तो तुम्हें रोकर क्यों पुकारती, क्यों द्वारिका से इतनी दूर आने का कष्ट देती ?"

वे इस उत्तर को सुनकर हँसे नहीं। अपनी व्यग्रता भी कम नहीं की। मैं बाहर खड़ा-खड़ा यह सब लीला देख रहा था, कि अब श्यामसुन्दर कौन-सा कौतुक रचते हैं। उसी स्वर में वे बोले-"इन लुगाइयों की नाक पर आँसू रखे ही रहते हैं। जब होता है तभी आँसू बहा देती हैं। बात बताओ, क्यों रोती हो ? हमें भोजन दो, इतनी दूर से आये हैं। आँसू बहा दिये। आँसुओं से पेट भरता है कहीं ?"

अत्यन्त कातर स्वर में कुपित होकर सम्पूर्ण ममत्व जताते हुए द्रौपदी ने कहा—"अब एक तुम दूसरे दुर्वासा आ गये। तुम्हारे शाप का तो मुझे डर है नहीं। मैं स्पष्ट कहती हूँ, आपको देने के लिये मेरे पास एक दाना भी नहीं है। कल भर पेट खा लेना, अब तो हमारी असली दुर्वासा से रक्षा करो हमें उनकी शापाग्नि में भस्म होने से बचाओ।"

वे उसी स्वर में बोले "उन दुर्वासा की तो पीछे चिंता करना। वे तो यहाँ हैं नहीं। गोद के को छोड़कर पेट के की आशा क्यों करनी ? वे तो जब आवेंगे तब देखा जायगा, पहिले मुझे तो कुछ खिला दो।"

कृष्णा ने अत्यन्त दीनता से कहा—"प्रभो ! अधिक उपहास न करें। असमय की हँसी अच्छी नहीं। सूर्यदत्त पात्र को मैं मल कर रख चुकी हूँ। अब उसमें से कुछ भी निकलने की आशा नहीं। आपको क्या खिलाऊँ ?"

भगवान् बोले—"देवि ! तुम अन्नपूर्णा हो, तुम्हारा भण्डार अक्षय है। वह कभी चुकने वाला नहीं। उस पात्र को लाओ तो

सही। मेरी तृप्ति मात्र के हेतु उसमें कुछ न कुछ अवशिष्ट होगा ही।"

द्रौपदी कुपित होकर उठी, बड़ी शीघ्रता से पात्र लाकर भगवान् के सम्मुख पटक दिया और बोली—"देख लीजिये, अभी तो मैं इसे भली-भाँति मलकर रख चुकी हूँ, इसमें क्या अवशिष्ट है?"

पात्र को सम्मुख देखकर, भगवान उसे बड़े ध्यान से निहारने लगे। सयोग की बात, मलते समय द्रौपदी की असावधानी से उसमें एक बथुए के साक का छोटा-सा पत्ता कहीं कोने में चिपका रह गया। द्रौपदी की उस पर दृष्टि ही नहीं पहुँची थी। उसे देखकर और बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए हरि बोले—"देख लो, तुम तो कहती थीं, इसमें कुछ है ही नहीं। इसमें तो इतना मसाला भरा है, कि इससे मेरे अकेले की बात ही क्या सम्पूर्ण चराचर तृप्त हो सकता है।" इतना कहकर उँगली से उसे खुरचकर भगवान् ने उसे हथेली पर रखा और यह कहकर कि इस शाकपत्र से समस्त विश्व ब्रह्माण्ड तृप्त हो जाय, उसे वे खा गये।

सचमुच उस समम हम लोगों के पेट फूल गये। स्नान करते हुए, दुर्वासा मुनि तथा उनके सभी साथियों को खट्टी-खट्टी डकारें आने लगीं। वे आपस में कहने लगे—"हमारे पेट में तो एक मास के लिये भी स्थान नहीं। कहीं धर्मराज कुपित होकर भोजन न करने पर हम सबको शाप न दे डालें।" दुर्वासाजी भी घबराये। उन्हें अम्बरीश राजा वाली घटना याद हो आई। भगवान् के चक्र सुदर्शन के तेज की याद आते ही उनका मुख सूख गया और वे बिना किसी से कहे ही वहाँ से भाग खड़े हुए। उनके शिष्यों ने भी उनका अनुसरण किया।

भगवान् ने भीम से कहा—"भैया, भीमसेन! तुम शीघ्रता

से आकर मुनियों सहित दुर्वासा को बुला लाओ कि रसोई तैयार है।"

सुनते ही भीम दौड़े गये। उन्होंने भागते हुए मुनियों को देखा कि बिना लँगोटी बदले गीले ही वस्त्रों से मुट्ठी बाँधे वे भागे जा रहे हैं। लपककर शीघ्रता के साथ भीमसेन ने उनको पकड़ा और बोले—"महाराज! यह बात ठीक नहीं। आप रसोई तैयार कराने को कह आये, अब भागे जा रहे हैं। हमारी सामग्री नष्ट हुई उसका क्या होगा?"

अत्यन्त दीनता के साथ दुर्वासाजी ने कहा—"भीमसेन! सत्य कहते हैं, न जाने क्या हो गया? पेट इतना फूल गया है, कि इसमें एक पाचक-गोली खाने का भी स्थान नहीं है। अब यदि हम कुछ खायगे तो सीधे यमपुर पधार जायँगे। अब हमें क्षमा करो। धर्मराज से हमारी ओर से कह देना हमारे ऊपर कुपित न हों। परिस्थिति से विवश न होते यो हम अवश्य ही उनका आतिथ्य ग्रहण करते।"

भीमसेन कब मानने वाले थे। वे बोले—"यदि महाराज! अब चलते नहीं, तो हमें कुछ आशीर्वाद ही दीजिये।"

दुर्वासाजी प्रसन्न होकर बोले—"भैया, मैं हृदय से यही आशीर्वाद देता हूँ, कि तुम समस्त भूमंडल के एकछत्र सम्राट् होकर खूब फूलो फलो और जिन्होंने पाप बुद्धि से तुम्हारा नाश कराने को मुझे भेजा है, उन्हीं का सर्वनाश हो। उनके कुल में कोई पानी देने वाला भी न रहे।"

इस प्रकार जिनकी कृपा से हम दुःख से मुक्त हुए, शाप से बचे, आपत्तियों के सिरों पर सदा पैर रखकर पार होते रहे। वे ही परात्पर प्रभु हम सबको छोड़कर चल बसे। हमारे सब कार्य अधूरे ही रह गये। अब संसार हमें नरक के समान प्रतीत होता है। इन भोगों के भोगने में अब हमें क्या सुख? राजन्! अब

हमें भी भगवान् के पथ का अनुसरण करना चाहिये।" यह कहते-कहते अर्जुन फिर दुखी हो गये।"

छप्पय

सुनत प्रिया की टेर बेर नहिँ करी पधारे।
'अति भूखा कछु देहु' आइ ये बचन उचारे॥
रोई कृष्णा पात्र लाइ आगे धरि दीन्हों।
शाकपत्र कूँ पाइ तृप्त सबरो जग कीन्हों॥
न्हात मुनिनि फूल्यो उदर, लेत डकार पलायँ सब।
टारी वृहद विपत्ति जिन, गये त्याग संसार सब॥

शिव के साथ हुए युद्ध में कृष्ण कृपा

[५५]

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
अन्येऽपि चाहमनुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

अश्वत्थामा भीम द्रोण अरु कर्ण धनुर्धर ।
डरत रहत नित आप चारिहू अति बलवत्तर ॥
दीक्षा दैके मोइ, आपने अस्त्र लैन हित ।
पठयो, प्रकटे इन्द्र, कह्यो तप में तुम हो रत ॥
तुमरे तप तें तुष्ट है, तुरत त्रिलोचन आयँगे ।
लोकपाल, शिव अस्त्र निज, आइ सभी दे जायँगे ॥

---

* अर्जुन कहते हैं—"वनवास के समय किरात वेषधारी उमा सहित महेशजी को जिनकी कृपा से मैंने युद्ध मे विस्मित बना दिया था और प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे अपना पाशुपत नामक अस्त्र दिया था यही नहीं—अन्य सभी लोकपालों ने आकर अपने-अपने अस्त्र मुझे दिये । इस मनुष्य शरीर से ही जिनकी कृपा से मैं स्वर्ग मे इन्द्र भवन मे जाकर देवराज इन्द्र के आधे आसन पर बैठा था । वे श्यामसुन्दर हमे निराशा के गर्त मे छोड़कर न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये ?"

भगवान् अपनी अनेक विभूतियों में विभक्त होकर भक्तों के ऊपर अनुग्रह करते हैं। संसार में जिसके द्वारा भी हमें कल्याण की प्राप्ति हो, समझना चाहिये, वे श्यामसुन्दर ही इस रूप से हमारे ऊपर अनुग्रह की वृष्टि कर रहे हैं। वे ही हमें कृपा करके सन्मार्ग का उपदेश दे रहे हैं। यही सब सोचकर धर्मराज कहने लगे—"अर्जुन! औरों के ऊपर तो भगवान् अलक्षित भाव से अनुग्रह करते हैं, किन्तु हमारे ऊपर तो वे सदा साक्षात् रूप से प्रकट होकर कृपा करते रहे। उन्हीं की कृपा से तो हम समर विजयी हुए, नहीं तो परशुराम को भी युद्ध में सन्तुष्ट कर देने वाले पितामह भीष्म से भला युद्ध करने का साहस कौन कर सकता था? तुम मुझे वनवास की और भी स्मृतियों को दिलाओ वहाँ की और अद्‌भुत घटनाओं को सुनाओ। यद्यपि ये सब मेरे ही ऊपर बीती हैं, फिर भी आज तुम्हारे मुख से सुनने पर ये नई-नई-सी प्रतीत हो रही हैं। कृष्ण कथा सुनकर किसी की भी कभी तृप्ति नहीं हो सकती।"

धर्मराज की ऐसी बात सुनकर अर्जुन कहने लगे—"राजन्! अनन्त स्मृतियों को इस एक छोटी-सी जिह्वा से सीमित समय में कैसे कहूँ, किन्तु जितनी भी कह सकूँगा, कहूँगा। इन्हें कहने से ही मेरा हृदय हलका हो रहा है। शोक सन्ताप कुछ कम हो रहा है। वनवास की विपत्तियाँ असह्य थीं, इन सबको हम श्यामसुंदर की कृपा से ही सहन कर सके। आप अपने पैतृक राज्य को लौटाने के लिये व्याकुल थे, किन्तु दुर्योधन के दुष्ट स्वभाव को स्मरण करके आप उससे बिना युद्ध किये राज्य लौटाने की आशा नहीं रखते थे। युद्ध का स्मरण आते ही आपके रोंगटे खड़े हो जाते। जब आदान, सन्धान, विसर्ग और संहार इन धनुर्विद्या के चारों चरणों के ज्ञाता भीष्म, द्रोण, कर्ण और अश्वत्थामा के बल, पराक्रम का आप स्मरण करते, तो राज्य से

सर्वथा हताश हो जाते। इनसे युद्ध में जीतने की आपको आशा नहीं थी। समस्त देवता भी मिलकर इन महाधनुर्धर वीरों को परास्त नहीं कर सकते थे, मनुष्यों की तो बात ही क्या। आप इसी चिन्ता में चिन्तित होकर सदा लम्बी-लम्बी साँसें लेते रहते थे। जब आपने इन्हें जीतने का अन्य कोई उपाय न देखा, तब भगवान् व्यास की दी हुई विद्या की आपने मुझे दीक्षा दी। जिसके बल से मुझे चराचर का ज्ञान हो सके और देवराज इन्द्र के समीप जाकर मैं दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को सविधि प्राप्त कर सकूँ।

दीक्षा देकर अत्यन्त दुःखी मन से आपने मुझे गहन वन में तपस्या करने के लिये बिदा किया। आप से आज्ञा पाकर मैं अगम्य निर्जन वन में अकेला ही चल दिया। सिवाय कृष्ण कृपा के वहाँ मेरा और कोई आधार नहीं था। मुझे श्यामसुन्दर का ही भरोसा था। वे मेरा सर्वत्र कल्याण करेंगे, मेरे अनिष्ट और विघ्नों को सदा नाश करते रहेंगे। इसी भावना से निर्भय होकर मैं मनुष्यों से अगम्य गन्धमादन के उस प्रदेश में गया, जहाँ सिद्धों की गति भी कठिनता से होती है। उस शान्त एकान्त स्थान में मुझे मेरे पिता देवराज इन्द्र के दर्शन हुए। उन्होंने मुझे आदेश दिया कि इस प्रदेश के अधिष्ठातृ देव शूलपाणि भगवान् विश्वनाथ शिव हैं। तुम उन्हें आराधना के द्वारा प्रसन्न कर लोगे, तब मैं तुम्हें सशरीर स्वर्ग में बुलाकर अस्त्र-शस्त्रों का उपदेश करूँगा। इतना कहकर देवराज अन्तर्धान हो गये।

मेरे श्यामसुन्दर ही ने शिव रूप धारण कर लिया है। मेरे इष्ट के ही वे अभिन्न रूप हैं—इसी भावना से त्रिशूलपाणि भगवान् भूतनाथ वृषभध्वज का ध्यान पूजन करने लगा। न मुझे किसी का भय था न चिन्ता। निर्भय होकर उमापति नीलकंठ की आराधना में मैं निमग्न हो गया।

एक दिन मैं क्या देखता हूँ, एक राक्षस वाराह का रूप रखकर मुझे मारने की इच्छा से मेरे समीप आया। मुझे तो अपने स्वामी द्वारकानाथ का भरोसा था, इसी से मैं किसी को अपने सम्मुख कुछ गिनता नहीं था यद्यपि तपस्या के समय मैं किसी को मारना नहीं चाहता था, किन्तु जब वह शूकर रूपी असुर प्राण ही लेने को उतारू हो गया तो मैंने भी अपने गांडीव धनुष पर तीक्ष्ण शर रखकर उसका अन्त कर देना चाहा। इतने में ही मैं क्या देखता हूँ, कि सम्मुख एक भयङ्कर भील अपनी भीलिनी के साथ धनुष-बाण धारण किये निर्भय होकर मेरी ही ओर चला आ रहा है। वह अंजन के पर्वत के समान वृहद् डीलडौल वाला काला और भयङ्कर था। उसकी लाल-लाल आँखें जल रही थीं। सहस्त्रों किरात किरातनी उसके पीछे हू-हू करते हुए दौड़े चले आ रहे थे। उन्होंने अपनी भयङ्कर हुङ्कार से उस शान्त प्रदेश को अशान्त और कोलाहल पूर्ण बना दिया। वे सब स्वच्छन्द गति से मुझे ही लक्ष्य करके निर्भय चले आ रहे थे। आते ही उस भयङ्कर बलवान् धनुर्धारी किरात ने मुझे डाँटते हुए कहा—"तू कौन है? यहाँ क्यों आया है? सावधान! तू भूलकर भी इस वाराह पर बाण न छोड़ना। यह मेरा शिकार है। यदि तूने इस पर अहङ्कार वश बाण छोड़ा तो मैं इस शूकर के सहित तुझे यमपुर पठा दूँगा।"

एक जङ्गली भील मेरे सम्मुख ऐसी कठोर बात कहने का साहस कर रहा है, यह सोचकर मुझे अत्यन्त ही क्रोध आया मैंने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न दिया और उस वाराह रूपधारी राक्षस को लक्ष्य करके बाण चला दिया। उस भील ने भी निर्भय होकर एक बाण शूकर पर छोड़ा। दोनों बाणों के लगने से वह मूक नामक दैत्य अपने वाराह रूपी छद्मशरीर को छोड़कर-मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अन्त में उसने अपना

दैत्य रूप भी प्रकट कर दिया। दैत्य तो मारा गया, किन्तु किरात अत्यन्त ही कुपित हुआ। उसने मुझसे कहा—"तूने मेरे लक्ष्य किये हुए पशु को क्यों मारा? जब मैं पहिले ही उसे मारने का निश्चय कर चुका था तब फिर तैंने बाण छोड़ने का साहस क्यों किया?"

मैंने क्रोध में भरकर कहा—"चल हट, बक-बक कर रहा है। तू कौन होता है, मेरे ऊपर प्रहार करने वाले पशु को मारने वाला? यह दैत्य था। मुझे मारने आया था। इसका वध धर्म से मुझे ही करना था। तूने मृगया के नियमों के विरुद्ध आचरण किया है। भाग जा यहाँ से, नहीं मैं तुझे अभी यमपुर भेज दूँगा। तू जानता नहीं, मेरा नाम अर्जुन है। इस गाण्डीव धनुष से मैंने समस्त देवताओं के सहित श्रीकृष्ण कृपा से देवराज इन्द्र तक को परास्त किया है। तुझे अपने प्राण प्यारे हों, तो अभी यहाँ से चला जा।"

निर्भय होकर वह भील बोला—"न मुझे तेरे गांडीव का भय है, न मैं तेरी बातों को सुनकर डरने ही वाला हूँ। तू मुझे भगाने वाला कौन है? यह अरण्य हमारा है। हम इसमें स्वच्छन्द विचरते हैं। भागना तो तुझे चाहिये, जो हमारे राज्य में हमसे बिना पूछे आ गया है और हमारे कार्यों में हस्तक्षेप करता है। यह सूकर मेरे ही बाण से मारा गया।"

मैंने कुपित होकर कहा—"बहुत चिबरि-चिबरि करेगा, तो मारूँगा एक बाण, कि चौकड़ी भूल जायगी। आया कहीं का राजा का बच्चा। अरण्य सबका है। तेरे जैसे म्लेच्छ को तो इसमें आने तक का अधिकार नहीं, मैं यहाँ भगवान् भूतनाथ की आराधना कर रहा हूँ।"

यह सुनकर वह भील मेरी अवज्ञा करता हुआ बोला—"तू भूतनाथ, प्रेतनाथ, पिशाचनाथ किसी की आराधना क्यों न कर

उससे द्वन्द युद्ध करने के लिये उद्यत हो गया। वह भी इसके लिये तैयार ही खड़ा था। मेरे भिड़ने पर भी वह अचल खड़ा रहा। पूरी शक्ति लगाकर मैं उसमें मुक्के मारता, किन्तु उसके मुख पर बल भी न पड़ता। उलटे मेरे ही हाथ में पीड़ा होने लगती। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं किसी लोहे की शिला पर प्रहार कर रहा हूँ। जब मैंने देखा कि यह तो अचल खड़ा है तब तो मैंने पूरा बल लगाकर उसे पृथ्वी पर पटकने का निश्चय करके ज्यों ही उस ओर हाथ बढ़ाया त्यों ही उसने अपनी दोनों बाहुओं में कसकर मुझे ऐसा दबोचा कि मेरा मलीदा बन गया। मैंने समझा कि अब तो मेरे प्राण गये। मेरे मुख से रुधिर की धारा बहने लगी और मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। वह हँसता हुआ ज्यों-का-त्यों अपनी भीलनी के साथ खड़ा ही रहा।

थोड़ी देर मे मेरी मूर्छा भंग हुई, मैं रो पड़ा—"हे श्याम-सुन्दर! आज इस भील से मुझे परास्त करा रहे हो? मैंने भग-वान् शङ्कर की पार्थिव पूजा आरंभ की। मृण्मयी प्रतिमा बनाकर मैं आशुतोष परमाराध्य पशुपति की पूजा करने लगा। मैंने पार्थिव शिवलिंग पर ज्यों-ही माला चढ़ाई त्यों-ही क्या देखता हूँ, कि वह माला तो उस किरात के कण्ठ में पड़ी है। अब मुझे चेत हुआ, अब मैं समझ सका कि ये भील वेषधारी साक्षात् शंकर हैं। मैं शीघ्रता से उनके चरणों मे पड़ गया। किरात रूपी शंकर ने अपना छद्मवेष त्याग दिया और वे अपने यथार्थ रूप से भगवती भवानी के सहित मेरे सम्मुख प्रकट हुए। उन्हीं श्यामसुन्दर की कृपा से मैं शिवजी को सन्तुष्ट कर सका। पिनाकपाणि पशुपति मेरे पुरुषार्थ से परम प्रसन्न हुए, मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बोले—"अर्जुन! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे जो चाहो वरदान माँग लो।" मैंने उनसे विश्व-

विजयी होने का अमोघ वर माँगा और उन्होंने कृपा करके मुझे प्रसन्नतापूर्वक वर भी प्रदान किया और अपना पशुपतास्त्र भी दिया। राजन्! जिनकी कृपा से मैं इतना महान साहस कर सका, वे अब इस धराधाम से चले गये। अब तो मैं निर्बल हो गया। वहीं पर एक और भी बड़ी घटना घटित हुई। वह थी—

लोकपालों द्वारा मुझे अस्त्रों की प्राप्ति

इन्द्र, वरुण, यम, धनद भा, अस्त्र सहित दर्शन दिये।
करी कृपा जिन कृपा ते, कृष्ण कहाँ अब चलि गये॥

राजन्! भगवान् आशुतोष का अनुग्रह प्राप्त करके मैं मन-ही-मन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। हा! जिन देव के देवताओं को भी दर्शन दुर्लभ हैं, वे मेरे सम्मुख भगवती पार्वती सहित प्रकट हुए। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जिनकी वेद मन्त्रों से, अनेक पावन-द्रव्यों से श्रद्धा सहित पूजा करते हैं पञ्चामृत आदि अति पवित्र पदार्थों से पूजन तथा अभिषेक करते हैं, उन नीलकण्ठ देव पर मैंने अज्ञान वश पुष्प वृष्टि करने के स्थान में बाण वर्षा की जिनके चरणों को परम पावन तपोधन मुनि डरते-डरते स्पर्श करते हैं, उनके त्रैलोक्य पूजित श्रीविग्रह में मैंने क्रोध करके मुष्टि प्रहार किया। मैं धन्य हूँ, जो देवाधिदेव महादेव का स्पर्श सुख मुझे प्राप्त हुआ। श्यामसुन्दर की कितनी अहैतुकी मेरे ऊपर कृपा है, जो मेरे इस कार्य से काल स्वरूप रुद्रदेव असन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने मेरी अवज्ञा से अप्रसन्न होकर मुझे दारुण शाप नहीं दिया। प्रत्युत प्रसन्न होकर पाशुपतास्त्र ही प्रदान किया, मेरे युद्ध कौशल से वे परमसन्तुष्ट हुए। मुझमें इतनी क्षमता कहाँ थी, जो अपने पुरुषार्थ से इन पुराण पुरुष

पशुपति नाथ महादेव को प्रसन्न कर सकता। श्रीकृष्ण कृपा से ही त्रिपुरारी, त्रिलोचन, शिव सन्तुष्ट हो सके। मैं यह सब सोच ही रहा था, कि पश्चिम दिशा से मुझे बड़ा भारी प्रकाश-सा अपनी ओर आता हुआ दिखाई दिया। वैदूर्य मणि के सदृश आभा वाला वह प्रकाश आकाश से शनैः-शनैः उतर रहा था, पहिले तो मैं समझा बिजली चमक रही है, जब मुझे विमान स्पष्ट दिखाई देने लगा, तो मैं समझ गया, कोई लोकपाल हैं। मैंने देखा भगवान् वरुण अपनी प्रभा से दसों दिशाओं को आलोकित करते हुए, मेरी ही ओर बढ़े चले आ रहे हैं उनके पीछे बहुत दिव्य रूप धारण किये जलचर, जीवों के अधिष्ठातृ देव भी हैं। नद, नदी, समुद्र सर सर्प, साध्य दैत्य आदि भी चमक दमक के सहित मूर्तिमान हुए उनका अनुसरण कर रहे हैं। मैंने उठकर उन पश्चिम दिशा के लोकपाल को अभ्युत्थान दिया। वचनों द्वारा उनका सत्कार किया। मैं बैठने भी न पाया था, कि इतने में ही दक्षिण दिशा से सूर्य के समान एक दूसरा प्रकाश भी मुझे अपनी ओर आते हुए दिखाई दिया। ध्यान से देखने पर प्रतीत हुआ कि ये सूर्य नहीं सूर्यसुत यम हैं। उस समय उन्होंने अपना देवरूप परित्याग करके मनुष्य रूप धारण कर लिया था। वे हाथ में दंड लिये पितर, गुह्यक तथा अन्य देव उपदेवों से घिरे उग्र होने पर भी सौम्य प्रतीत होते थे। उनका कृष्ण वर्ण वपु कान्ति के कारण नीलमणि के समान चमक रहा था। मैंने दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर उन समस्त प्राणियों के संहार कर्ता दक्षिण दिशा के दिग्पाल भगवान् यम को प्रणाम किया। वे भी प्रसन्नता प्रकट करते हुए मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुए।

इतने में ही पूर्व दिशा से दिव्य गन्ध उड़ाता हुआ, सुखद संगीत की ध्वनि से गूँजता हुआ, एक दिव्य विमान अपनी

ओर आता हुआ और दिखाई दिया। उसमें माता शची के सहित मेरे पिता इन्द्रदेव विराजमान थे। उनके ऊपर सैकड़ों तान वाला श्वेतछत्र तना था, स्वर्गीय दिव्याङ्गनायें चमर डुला रही थीं। देवता, गन्धर्व, ऋषि आदि उनकी स्तुति कर रहे थे। एक-से-एक अनुपम रूप लावण्ययुक्त असंख्यो अप्सराओं से वे घिरे थे। वे दिव्य हरे वर्ण के वस्त्र पहिने थे, माँ शची की साड़ी अरुण वर्ण की थी, दोनों ही नन्दन वन के कल्पवृक्ष के फूलों से बनी दिव्य मालायें धारण किये हुए थे। उन दिव्य पुष्पों की सुगन्धि से सभी दिशायें सुवासित बन गई थीं। बहुत-सी देवाङ्गनायें ताल स्वर के सहित विविध प्रकार कोकिल कूजित कंठ से दिव्य गीत गा रही थीं। इस प्रकार पूर्व दिशा के दिग्पाल, तीनों लोकों के नाथ अपने पूज्य पिता को आते देख मेरा हृदय प्रेम से परिप्लावित हो गया। मैंने श्रद्धा भक्ति के साथ शची सहित देवराज को प्रणाम किया, वे भी उस गिरि के शिखर पर अपने विमान ही पर विराजमान हुए। इसके अनन्तर उत्तर दिशा के अधिपति, समस्त धन रत्नों के स्वामी देवताओं के भण्डारी कुबेरजी अपनी कान्ति से आकाश मण्डल में प्रकाश छिटकाते हुए, विविध रत्न और मणियों को चमकाते हुए उस दिव्य पर्वत के शिखर पर उतरे और अपनी ही उत्तर दिशा के शिखर पर सुखासीन हुए।

चारों लोकपालों के आ जाने पर मैंने अपनी यथालब्धोपचारों द्वारा यथा विधि पूजा की। मेरी पूजा को शास्त्र विधि से ग्रहण करके उनमें से दक्षिण दिशा के अधिपति यमराज बोले—"अर्जुन ! हम सब तुम्हारी तपस्या से सन्तुष्ट हैं। आये हुए हम चारों लोकपालों का तुम दर्शन करो, जो कि मर्त्यलोक के प्राणियों को अत्यन्त ही दुलभ है। हे पुत्र ! हम तुम्हारे शील, स्वभाव, व्रत और ब्रह्मचर्य से प्रसन्न हैं। यह बड़े भाग्य की बात है, कि-

तुमने अपने प्रबल पराक्रम से पशुपति नाथ भगवान् त्रिलोचन शिव को सन्तुष्ट किया है और उनका कृपा-प्रसाद प्राप्त किया है। लो तुम मेरा अमोघ दण्ड लो। इससे तुम शत्रुओं का संहार कर सकोगे। भीष्म, द्रोण, कर्ण, कोई भी तुम्हें जीत नहीं सकेगा। जिस कर्ण के बल पराक्रम को स्मरण कर धर्मराज नित्य भयभीत रहते हैं उस कर्ण को भी तुम संग्राम में मार डालोगे।" यह कहकर उन्होंने मुझे अपना अमोघ दण्ड दिया। इसी प्रकार वरुण जी ने अपनी पाश दी, कुवेरजी ने अपना प्रस्वापनास्त्र प्रदान किया और देवराज ने भी मुझे समस्त दिव्यास्त्र देने का वचन दिया। उन्होंने कहा—"पुत्र! मैं तुम्हें समस्त अमोघ अस्त्र दूँगा। तुम्हें देवताओं का एक अत्यन्त प्रिय किन्तु दुष्कर कार्य करना होगा। तुम्हें इसी मानुषी शरीर से स्वर्ग मे बुलाऊँगा और पुनः तुम्हारे भाइयों से इसी शरीर से मिला दूँगा। तुम सब चिन्ता छोड़कर स्वर्ग आने की तैयारी करो। मैं रथ लेकर अपने सारथि मातलि को भेजूँगा, उसके साथ तुम आ जाना।" इन्द्रदेव इतना कहकर सभी लोकपालों के सहित वहीं अन्तर्धान हो गये। मैं चारों ओर चकित होकर परम विस्मय के सहित देखता का देखता ही रह गया। ये सब बातें मुझे स्वप्न के समान प्रतीत हुईं। लोकपालों की इतनी कृपा मैंने भगवान् वासुदेव के अलक्षित अनुग्रह के ही कारण प्राप्त की।

राजन्! एक साथ ही भगवान् भूतनाथ और सभी लोकपालों की कृपा प्राप्त करके तथा उनके दिये दिव्यास्त्रों को पाकर मेरा मन-मुकुर खिल उठा। मैं स्वर्ग के स्वप्न देखने लगा। स्वर्ग कैसा होगा, वहाँ के नन्दन वन की बड़ी प्रशंसा है। सुना है वहाँ सब विमानों पर ही रहते हैं, वे विमान इच्छानुसार गमन करने वाले होते हैं। देवराज की पुरी दिव्य है, वहाँ के समस्त भोग दिव्य हैं। वहाँ ऐरावत हाथी है, मूर्तिमान सभी तीर्थ और नद-

नदियों के अधिष्ठातृदेव वहाँ रहते हैं। स्वर्ग को वे ही लोग देख सकते हैं, जिन्होंने घोर तप किया हो, चिरकाल तक शम, दम तथा संयम आदि सद्गुणों का आचरण किया हो। धर्म मार्ग का अनुसरण किया हो। बड़े-बड़े राजर्षि, महर्षि और देवर्षि तथा यशस्वी, तपस्वी, सत्यपुरुष ही स्वर्ग का दर्शन कर सकते हैं, सो भी इस मर्त्यलोक के शरीर से नहीं। मरकर दिव्य देह धारण करके ही प्राणी स्वर्ग जा सकते हैं। मैंने ऐसा कौन-सा सुकृत किया है, जिससे मैं इस पाञ्चभौतिक पार्थिव शरीर से ही स्वर्ग की यात्रा कर सकूँगा। जो प्राणी स्वर्गगामी हो जाते हैं, वे फिर लौटकर उस शरीर से पृथ्वी पर नहीं आ सकते। क्षीण पुण्य होने पर अन्य योनियों में जन्म लेते हैं। वहाँ से असत्कार पूर्वक ढकेल दिये जाते हैं। मुझसे तो देवराज कह गये हैं, तुम इसी शरीर से लौटकर फिर अपने भाइयों को आकर देखोगे। मैंने कौन-सा पुण्य कार्य किया है कौन से ऐसे सुकृत का फल है, जो मैं इसी शरीर से स्वर्ग का दर्शन कर सकूँगा। मेरा अपना तो कोई पुण्य है नहीं, श्रीकृष्ण की कृपा से यह देव-दुर्लभ सुयोग मुझे प्राप्त हो सकता है। जिस पर देवकीनन्दन की दया है, जिसके ऊपर यदुनंदन का अनुग्रह है उसके लिये कोई कार्य असम्भव नहीं। मैं यह सोच ही रहा था, कि एक बड़े भारी द्वीप के समान दिव्य रथ आकाश से मन्दराचल पर उतरता हुआ दिखाई दिया।

उस रथ का सूर्य से भी अधिक प्रकाश था, छोटी-छोटी घण्टियाँ उसमें बँधी थीं जो चलते समय मधुर ध्वनि करती थीं। अनेक आयुध उसमें रखे थे। वह इच्छानुसार घट-बढ़ सकता था। अपनी चमक-दमक से सम्पूर्ण मन्दराचल को आलोकित करता हुआ वह मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुआ। वह पृथ्वी पर नहीं टिका अधर में ही खड़ा रहा। सैकड़ों हरे रङ्ग के घोड़े

उसमें जुते हुए थे। उनकी बाग एक दूसरे से बँधी थी। जिन्हें मातलि नाम का दिव्य सारथि चला रहा था। मेरे समीप आकर जब रथ खड़ा हो गया, तो देवराज के परम विश्वास पात्र सारथ्य-कर्म में विशारद, महामना मातलि उससे उतरकर मेरे समीप आये। उन्होंने मुझे आते ही प्रणाम किया, खड़े होकर मैंने उनका अभिनन्दन किया। उन्होंने मुझसे कहा—"हे कुरुकुल नन्दन! आपको आपके पिता देवेन्द्र ने बुलाया है। वे स्वर्ग में आपको देखना चाहते हैं। वे आप पर वहाँ वात्सल्य स्नेह प्रकट करने को उत्सुक हैं, आप चलकर उन्हें प्रसन्न करें। आपने चराचर के स्वामी भगवान् वासुदेव को अपने सद्‌गुणों से प्रसन्न किया है, इसीलिए यह अन्य लोगों द्वारा दुष्प्राप्य सुअवसर आपको प्राप्त हुआ है। आपको स्वर्ग जाने के लिये पार्थिव देह परित्याग करके दिव्य देह धारण न करनी पड़ेगी। आप अपने इसी शरीर से स्वर्ग सुखों का उपभोग करेंगे और इच्छानुसार फिर लौटकर मर्त्यलोक में भी आ सकेंगे। आप अब देर न करें और मेरे साथ स्वर्ग पधारें।"

मैंने विनीत हुए मातलि से नम्रतापूर्वक कहा—"इन्द्र सारथि! मैं आपका स्वागत करता हूँ। आपके विनीत वचनों का अभिनन्दन करता हूँ। हे धर्मज्ञ! यह बड़े सौभाग्य की बात है, कि इस दिव्य रथ सहित मैं आपका दर्शन कर रहा हूँ, जो मर्त्यधर्मा प्राणियों के लिए अत्यन्त ही दुर्लभ है। इस रथ में सैकड़ों अश्वमेध राज-सूय यज्ञ करने वाले राजर्षि ही चढ़कर जाते होंगे, श्रीकृष्ण कृपा से मैं सशरीर इस पर चढ़ सकूँगा। आप पहिले इसमें विराजें तब मैं भी चढ़ूँगा।" मेरी बात सुनकर मातलि रथ पर जा बैठे और घोड़ों की बागों को ठीक करने लगे।

मैंने दशों दिशाओं के देवताओं को प्रणाम किया। उस देवर्षि, ब्रह्मर्षि और सिद्धों द्वारा सेवित परम रमणीय शिखरों

वाले मन्दराचल से आज्ञा माँगी। मेरे समीप जो पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म थे सभी से विदा होकर, उस दिव्य रथ की परिक्रमा करके मैं उस पर चढ़ गया। कितना सुन्दर था वह रथ, कैसी अद्‌भुत कारीगरी हो रही थी उसके कोने-कोने में, कैसी दिव्य गन्ध से वह सुवासित हो रहा था, उसमें बैठकर मेरा मन अत्यंत ही आह्लादित हुआ। भगवान् वासुदेव की कृपा से मानुषी शरीर से मैं देवराज के रथ में बैठ सका। मेरी प्रसन्नता का पारावार नहीं था। मैं समस्त शोक, चिन्ता, ग्लानि, सन्ताप आकुलता से रहित होकर अत्यन्त ही प्रमुदित हो रहा था। इतनी ही देर में स्वर्ग के विमान दिखाई देने लगे, नन्दनवन आ गया और मातलि ने कहा—"महाभाग! आप आ गये, अब स्वर्ग को देखिये।" बात-की-बात में हम अमरावती नगरी के समीप पहुँच गये। सैकड़ों देव गन्धर्व और अप्सराओं ने मेरा स्वागत किया। और सभी बड़े सत्कार पूर्वक मुझे देवराज की दिव्य सभा में ले गये। मुझे सबसे दुर्लभ तो एक सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह था मुझे—

(३)

देवराज का अर्ध सिंहासन प्राप्त होना

देखि देवपति मुदित मन, पुत्र प्रेम परगट कियो।
सिर सूँघ्यो मुँह चूमिके, आधो सिंहासन दियो॥

देवराज ने दूर से ही मुझे आते देखा, उनका मुख कमल देखते ही खिल उठा। मैंने शीघ्रता से आगे बढ़कर उनके दोनों परम पावन चरणों में अपना सिर रखा। जिन चरणों में नित्य ही असंख्यों मुकुटों के सहित देवताओं और राजर्षियों के सिर झुकते हैं, जो चरण त्रैलोक्य वन्दित हैं, उन्हीं चरणों को मैंने पकड़कर अपना मस्तक रगड़ा और पलकों से उसे पोंछा। देव-

राज ने अत्यन्त ही स्नेह से अपने गोल-गोल सुडौल हाथों से मुझे बलपूर्वक उठाकर छाती से लगाया। मेरे सिर को सूँघकर उन्होंने अपने कोमल करों से मेरा मुँह पोंछा। बालों को सुलझाया और खींचकर मुझे अपने बराबर आधे आसन पर बिठाया। उस समय हम दोनों पिता पुत्रों को एक ही आसन पर बैठे देखकर स्वर्ग के समस्त देवता, ऋषि, गन्धर्व, राजर्षि, देवर्षि अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। सभी एकटक भाव से हम दोनों की ओर निहार रहे थे। मुझे अपने इस महान् सौभाग्य पर मन-ही-मन बड़ा गर्व हो रहा था। देवराज के साथ मर्त्य शरीर से उनके सिंहासन पर बैठने में मुझे बड़ी लज्जा आ रही थी, संकोच के कारण मैं सिर उठाकर सबको देख भी न सकता था। सिकुड़ा हुआ देवराज की गोदी में बैठा था। स्वर्ग की अनुपम रूप लावण्य युक्त देवाङ्गनायें मेरे ऊपर चँवर डुला रही थीं। सहस्रों लखों असंख्यों अप्सराओं से देवराज की वह सभा इसी प्रकार दमक रही थी, जिस प्रकार आकाश में सहस्रों बिजलियाँ एक साथ चमक रही हों।

देवराज की आज्ञा से अप्सराओं और गन्धर्वों ने मेरे पैर धोये, विधिवत पूजा की। स्वर्ग में अपना अमानुषीय सत्कार पाकर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। मैं अपने आपको भूल नहीं गया था, मैं सब समझता था, कि इतना सम्मान का पात्र मैं किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। यह सब श्यामसुन्दर की ही कृपा का फल है। वे ही मुझे खर से उतार कर ऐरावत पर चढ़ा सकते हैं, वे ही तृण से सुमेरु बनाने में समर्थ हैं। जिन पर उनकी कृपा है, उसके लिये स्वर्ग की तो बात ही क्या ब्रह्मलोक भी तुच्छ है। लोक पितामह ब्रह्मा भी उनकी कृपा के लिये सदा उत्सुक रहते हैं।

राजन्! जिन्होंने हमें मनुष्य से देवता बनाया, निर्बल होने

पर भी सबल बनाया। राज्य भ्रष्ट होने पर भी चक्रवर्ती पद प्रदान किया, असहाय होने पर भी जिन्होंने सब प्रकार की सहायता दी, अपने ज्येष्ठ भाई बलराम के मना करने पर भी जिन्होंने कौरवों को छोड़कर हमारा पक्ष लिया, निःशस्त्र रहते हुए भी जिन्होंने मुझे निमित्त बनाकर समस्त शत्रु सेना का संहार कराया, वे ही आज हम सबकी नौका को मझधार में डगमगाती छोड़कर न जाने कहाँ विलीन हो गये। प्रभो! अब यह संसार रहने योग्य नहीं रहा। कहाँ तो स्वर्ग में मैंने उन निवात कवच दैत्यों को मारा जो कि देवताओं से भी नहीं मारे गये थे, जिनके मारने से मेरी स्वर्ग में, पृथ्वी में सर्वत्र प्रशंसा हुई और कहाँ आज श्रीकृष्ण के विहीन होने पर मुझे जंगली भीलों ने परास्त कर दिया। इसलिये राजन्! अब इस संसार में हमारे लिये कोई मोहक वस्तु नहीं है। अब तो हमें भी शीघ्र से शीघ्र उसी पथ का अनुसरण करना चाहिये, जिससे श्यामसुन्दर पधारे हैं।"

इतना कहते-कहते अर्जुन मूर्छित-से हो गये—

छप्पय

करत तपस्या भील वेष धरि शिव तहँ आये।
जानि जंगली जाति, लड़यो हरि अति हरषाये॥
भयो युद्ध घनघोर, भई नहिँ कुंठित मो मति।
कृष्ण कृपा तें उमा सहित, शिव तुष्ट भये अति॥
जिनकी कृपा प्रसाद तें, नर तनु तें सुर पुर गयो।
अर्ध सिंहासन हरि दयो, अब उन बिनु निरबल भयो॥

—०—

निवात कवच वध के समय की कृपा का वर्णन

[५६]

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मम्
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥*
(श्री भा० १ स्क० १५ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

कछुक काल सुख सहित स्वर्ग सुख भोगे भारी।
दिव्य अस्त्र सब सीखि चलन की करी तयारी॥
देवराज सब देव कहें इक कारज कीजे।
अस्त्र-शस्त्र तो लये दक्षिणा गुरु की दीजे॥
हैं निवात कवचादि अति, प्रबल दैत्य तिनतें लरो।
मारो रण में सबनि कूँ, निष्कंटक सुरपुर करो॥

---

* अर्जुन कहते हैं कि—"राजन्! जब मैं स्वर्गमे कुछ दिन रहा तो वहाँ निवात कवच नामक दैत्य के वध के लिये सम्पूर्ण देवताओं के सहित देवराज ने मेरी गाडीव लक्षित भुजाओं का आश्रय लिया। मेरी भुजाओं मे बल अपना निजी नही था, उन्ही श्यामसुन्दर के बल से वे बलवती बनी हुई थी। हे आजमीढ़वंशावतंश प्रभो! आज उन्ही महा-महिम भूमा पुरुष ने मुझे ठग लिया। मुझे छोड़कर वे चले गये।"

कहाँ वे दिन थे जब मैं देव, दानव, यक्ष राक्षसों से भी नहीं जीता जा सकता था, कहाँ आज वे दिन आ गये, कि साधारण भीलों ने मुझे मार भगाया। यही सब सोचकर और विलाप करते हुए अर्जुन बिना ही धर्मराज के पूछे कहने लगे—"राजन्! अब कहने सुनने की बात रही नहीं। जब मुझे स्वर्ग की वे बातें याद आती हैं, तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। अब वे बातें चिरकाल पूर्व देखे स्वप्न की भाँति अथवा पूर्वजन्म की घटित घटना के समान प्रतीत होती हैं। मैं ५ वर्षों तक स्वर्ग में रहा। वहाँ मैंने श्रीकृष्ण कृपा से ऐसे-ऐसे कठिन कार्य किये जिन्हें देवता भी करने में असमर्थ थे।

जब मैं सभी प्रकार के दिव्य अस्त्रों को आदान, सन्धान, विसर्ग और संहार सहित सीख गया और उनके चलाने आदि की निपुणता प्राप्त हो गई, तो मैंने आपके चरणों के समीप जाने की देवराज को इच्छा प्रकट की। हे भरतवंशावतंस महाराज! यद्यपि मैं स्वर्ग में निवास कर रहा था, स्वर्गीय दिव्य भोगों का भोग कर रहा था, तो भी मेरे मन में शान्ति नहीं थी। मुझे रह-रहकर जुए की वे सब बातें याद हो आतीं। भरी सभा में हुए द्रौपदी के अपमान की जब भी स्मृति हो आती, तभी मेरा संपूर्ण शरीर क्रोध से काँपने लगता और इच्छा होती, अभी यहाँ से सीधा कौरवों के समीप जाकर इन्हीं दिव्यास्त्रों से उन सबको भस्म कर दूँ। किन्तु फिर मुझे आपकी प्रतिज्ञा की याद आती। आप धर्मात्मा हैं, आप धर्म के विरुद्ध कोई कार्य न करेंगे। वनवास की अवधि के पूर्व आप किसी प्रकार भी लौटकर नहीं जायँगे। यदि समय के पूर्व मैं कौरवों को मार भी डालूँ, तो आप निश्चय ही अधर्मी और छली समझकर मेरा परित्याग कर देंगे। इसी भय से मैं अपने क्रोध को अपने शरीर में ही सुखाता, मन मसोस कर समय की प्रतीक्षा करता। स्वर्ग में भी मुझे

आपके बिना अच्छा नहीं लगता, आप वनवास में दुःख उठा रहे हों और मैं स्वर्ग सुख भोगूँ, ऐसे भोगों को धिक्कार है। ऐसी दशा में इन्द्रलोक की तो बात ही क्या, ब्रह्मलोक भी मुझे सुखप्रद प्रतीत नहीं हो सकता था। किन्तु कार्यवश आपकी आज्ञा पालन के निमित्त मुझे वहाँ रहना ही पड़ा और देवराज के आग्रह से स्वर्ग सुखों का वेमन से उपभोग भी करता ही था।

जब मैं सभी अस्त्र-शस्त्रों में भली-भाँति पारंगत हो गया, तो एक दिन देवराज ने मुझसे अत्यन्त ममत्व के साथ कहा—"वत्स, अर्जुन! अब मुझे विश्वास हो गया, कि तुम त्रैलोक्य विजयी बन गये। अब तीनों लोकों में तुम्हें कोई भी जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। तुमने बड़े मनोयोग से समस्त दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को सीखा है। तुम्हारी धारणा शक्ति और हस्त-लाघवता से मैं अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। अब तुम्हें मेरा भी कुछ कार्य करना होगा। सिखाई हुई विद्या की गुरुदक्षिणा चुकाने का यही समय है।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! मुझे जो भी आप आज्ञा करेंगे और वह मेरी शक्ति के बाहर की बात न हुई, तो उसे आप सम्पन्न हुई ही समझें। आप आज्ञा कीजिये मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?"

देवराज प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"अर्जुन! अब हम सबको तुम्हारे बाहुबल का ही भरोसा है। जिस काम को समस्त देवताओं के साथ मिलकर भी मैं नहीं कर सकता, उस काम को तुम्हें करना होगा। देखो, मेरे कुछ निवात कवच नाम के शत्रु दैत्य हैं। वे समुद्र के नीचे पाताल में रहते हैं। उनकी संख्या लगभग तीन करोड़ है। वे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष किसी से भी मारे नहीं जा सकते। अतः तुम उनको जाकर मारो और देवताओं को सुखी करो।"

देवराज के मुख से अपनी ऐसी प्रशंसा सुनकर मुझे गर्व हुआ मैंने सोचा—"मैं कितना बली हूँ, देवराज मेरे बाहुबल पर विश्वास करते हैं, कि देवताओं से भी अवध्य दैत्यों का संहार करने मुझे भेज रहे हैं। उस समय मैं इस बात को भूल ही गया था, कि वह बल मेरा नहीं, श्यामसुन्दर का है। निवात कवच और हिरण्यपुर वासी दैत्य दानवों को मारने की मुझमें स्वतः शक्ति नहीं है, किन्तु उन्हीं सर्वाधार की दी हुई शक्ति से वे मारे जायेंगे।" मैं देवराज की आज्ञा पाकर और मातलि के द्वारा चलाया जाने वाला उन्हीं का रथ लेकर दैत्यों को मारने स्वर्ग से चला। उस समय सभी स्वर्गवासी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। देवता और ऋषिगण मेरे पराक्रमों का बखान कर रहे थे। गंधर्व मेरे ही गुणों का गान कर रहे थे और स्वर्ग की अप्सरायें नन्दन वन के दिव्य पुष्पों की मेरे ऊपर वर्षा कर रही थीं। सभी का यथोचित सत्कार करके मैं देवराज के दिव्य रथ में बैठकर अनेक जल-जन्तुओं से पूर्ण वृहद् ऊर्मि रथ चलाने में, यह बात मुझे उसी समय मालूम हुई। बात की बात में हरे रङ्ग के सहस्रों घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले उस रथ को वह टेढ़ा-मेढ़ा घुमाकर निवात कवच की-पृथ्वी के नीचे की दिव्य पुरी में ले गया। उसमें स्वर्ग से भी बढ़-चढ़कर सुख सामग्रियाँ थीं, वहाँ के वैभव को देखकर स्वर्ग का वैभव फीका-फीका-सा प्रतीत होता था। मातलि से ही मुझे ज्ञात हुआ, कि यह पुर पूर्वकाल में देवताओं के ही अधीन था। देवगण ही इसमें निवास करते थे, किन्तु देवताओं से प्रबल पराक्रमी दैत्यों ने इसे छीन लिया। ये दैत्य बड़े बली हैं, ब्रह्माजी के वरदान से ये सभी देवयोनि के प्राणियों से अवध्य हैं।

मुझे देखकर वे दैत्य क्रोध में भरकर शूल, पट्टिस, खड्ग, तोमर, भुसुण्डी आदि नाना अस्त्र-शस्त्रों को लेकर मेरे ऊपर टूट

पड़े। मैंने भी उन्हें सहस्रों बाण मारकर घायल किया। बहुत-से मेरे बाणों से मरकर गिर पड़े और बहुत-से अपने-अपने प्राण लेकर रण से भाग गये, किन्तु कुछ काल के पश्चात् फिर वे अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर मेरे सम्मुख लड़ने आये। अबके उन्होंने अपनी आसुरी माया का प्रयोग किया। कभी तो माया के द्वारा भयङ्कर वृष्टि करते, कभी पत्थर बरसा देते, कभी सर्वत्र अग्नि ही अग्नि दिखाई देती। कभी घोर अन्धकार कर देते, कि हमें भी दिखाई न देता। उसी समय वे अलक्षित भाव से विविध प्रकार के अस्त्रों की वर्षा करते। उस घोर अन्धकार में जब मातलि भी रथ चलाने में असमर्थ हुआ, तब वह घबड़ाने लगा। उसने कहा—"अर्जुन! दैत्य बड़े प्रबल हैं। इतना घोर युद्ध तो मैंने कभी नहीं देखा। तुम अपने वज्रास्त्र से इस माया का नाश करो।"

मातलि को भयभीत देखकर मेरा हृदय भी काँपने लगा। मुझे भी कुछ दिखाई नहीं देता था, मेरी भी अस्त्र चलाने की गति रुक गई थी, तब मैंने श्यामसुन्दर का स्मरण किया। उन्हीं लीलाधारी गिरधारी की मैंने मन-ही-मन स्तुति की। स्मरण करते ही उन्होंने मुझे बुद्धि-योग प्रदान किया। मैंने वज्रास्त्र छोड़कर दैत्यों की समस्त माया का नाश कर दिया। अब अन्धकार का नाम भी नहीं था, सर्वत्र दिव्य प्रकाश फैल रहा था। मातलि भी सावधान हुआ। उसने घोड़े की रास कसकर पकड़ी। अब मैं शब्दवेधी बाण छोड़कर छिपे हुए दैत्यों को मारने लगा। मेरी दिव्यास्त्रों की मार से मरकर सभी दैत्य निर्जीव होकर गिरने लगे। उनकी नगरी में सर्वत्र हाहाकार मच गया। मातलि मेरे बल पराक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। मुझे इन्द्र से भी बढ़कर शूरवीर और पराक्रमी बताने लगा। उसे क्या पता था कि यह शक्ति मेरी नहीं है। श्यामसुन्दर ही मुझे इन मरे हुए-काल

पाश में फँसे हुए-दैत्यों को निमित्त बनाकर मरवा रहे हैं। उनकी शक्ति से ही मैं अस्त्र-शस्त्रों का सविधि प्रयोग कर रहा हूँ। यदि मेरा ही बल होता तो आज मैं जङ्गली भीलों से क्यों परास्त हो जाता ? जिन बाणों ने निवात कवच और हिरण्यपुरवासी दैत्यों का संहार किया, वे इस समय साधारण मनुष्यों पर कुण्ठित क्यों हो जाते ?"

राजन् ! इस प्रकार समस्त निवात कवचों को मारकर और विजय का शङ्ख बजाकर मैं अत्यन्त हर्ष के साथ उस पातालपुरी से बाहर हुआ। मार्ग मे आते समय आकाश में अधर लटका हुआ एक दिव्य पुर मैंने देखा। उसे आकाश में ही अधर स्थिर देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, मैंने मातलि सारथि से पूछा—"महाभाग ! तुम देवराज के श्रेष्ठ सारथि हो, सर्वज्ञ हो, मुझे इस आश्चर्य-जनक नगर का परिचय दो, यह किसका पुर है, क्यों इतना देदीप्यमान है और बिना किसी आधार के भी वह आकाश में किसके वरदान से स्थिर है ?"

इस पर मातलि ने मुझे बताया—"हे पाण्डुनन्दन ! यह पौलोम और कालकेय नामक दैत्यों का हिरण्यपुर नामक नगर है। इन दैत्यों की पुलोमी और कालिका नाम वाली दोनों माताओं ने देवताओं के हजार वर्ष तक बड़ी घोर तपस्या की था। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी ने उनसे वरदान माँगने को कहा। उन्होंने यही वरदान माँगा कि-"हमारे पुत्रों को देवता, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व आदि कोई भी मार न सकें और उनके रहने को एक ऐसा सब विमानों से बढ़कर सुवर्णमय पुर मिले जो आकाश में जहाँ चाहे जा सके, अधर में ही स्थिर रहे।".

ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कहकर उन्हें ऐसा ही वरदान दिया। पितामह ब्रह्माजी के वरदान के प्रभाव से ही यह नगर आकाश में सदा अधर ही टँगा रहता है, इसमें रहने वाले दैत्य बड़े ही

बलवान् हैं, ये देवताओं के शत्रु हैं, सदा देवराज को पीड़ा पहुँचाते रहते हैं,देवताओं के द्वारा तो ये वरदान के प्रभाव से अवध्य ही हो चुके हैं। अतः देवता तो इन्हें मार ही नहीं सकते। इसीलिये इन्हें बड़ा गर्व हो गया है और नित्य नूतन उपद्रव करते रहते हैं।"

मैंने कहा—"मातलि ! मेरा रथ इसी पुर में ले चलो। जब ये देवराज के शत्रु हैं, तो मेरे भी शत्रु हैं। लगे हाथों मैं इन्हें भी मारता चलूँ।"

मातलि ने कहा—"महाभाग ! आप इन्हें अवश्य मार सकते हैं। मैंने एक बार ब्रह्माजी से सुना भी था, कि ये देवताओं से तो अवध्य होंगे किन्तु एक मनुष्य के हाथों मारे जायँगे। आप इन्हें मारकर अवश्य ही देवताओं के दुख को दूर कीजिये।"

इतना सुनना था कि मैंने उन सबको मारने का निश्चय कर लिया। उस पुर में प्रवेश करते ही घोर युद्ध हुआ। सभी दैत्य मेरे ऊपर अस्त्र-शस्त्र लेकर टूट पड़े। मैंने भी अपने दिव्य अस्त्रों से उनके सभी अस्त्रों को व्यर्थ बना दिया और बात की बात में ही सबको मार भगाया। तब तो वे सब अपने दिव्य नगर में घुस गये। मैंने अनेकों तीक्ष्ण बाण मार-मारकर उस सुवर्ण के नगर के टुकड़े-टुकड़े कर उन दैत्यों को पृथ्वी पर गिरा दिया। इस पर उन्होंने मेरे रथ के घोड़ों के पैर पकड़ लिये। मैंने अपने वज्रास्त्र से उन्हें भी मार गिराया।

इस प्रकार उन भगवान् वासुदेव की कृपा से मैं देवताओं से भी दुर्जय दैत्य दानवों को मारकर विजयी होकर देवेन्द्र की अमरावती नगरी में आया। वहाँ सभी ने मेरा बड़ा स्वागत-सत्कार किया।

जिनकी कृपा से यह सब हुआ, जिनके बल भरोसे मैं अजेय दैत्यों से भी निर्भय होकर लड़ सका, वे सर्वान्तर्यामी प्रभु इस

धराधाम पर नहीं रहे। वे मुझे छलकर वैकुण्ठधाम को पधार गये। राजन्! अब हमारा आश्रय नष्ट हो गया। हम हतवीर्य और पराक्रम हीन हो गये। अब हमारा जीवन व्यर्थ है, अब तो हमें एक साधारण मनुष्य भी हरा सकता है। नीच-से-नीच भी हमें नीचा दिखा सकता है।" इतना कहते-कहते अर्जुन का गला भर आया और वे आगे कुछ न कह सके।"

छप्पय

मारि सकें नहिँ देव तिन्हीं ते मैं जा जूझ्यो।
कृष्ण कृपा तें कछू कठिन कारज नहिँ सूझ्यो॥
दिव्य अस्त्र तें मारि शत्रु सबही संहारे।
माया छलतें लड़े, तऊ रण में सब हारे॥
कालिकेय पौलोम सब, स्वर्णपुरी वासी हने।
जिनके बल तें बली बनि राजन् अब तिनुबिनु घने॥

गोधन हरण के समय हुए युद्ध की कृपा का वर्णन

(५७)

यदुबान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतार्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं बहु धनं च मया परेषां
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः ॥*

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

कौरव और त्रिगर्त सन्धि करि करी चढ़ाई ।
करें वास अज्ञात जहाँ हम पाँचों भाई ॥
भीष्म, कर्ण, गुरु द्रोण, सुयोधन सब मिलि करिकें ।
मत्स्य देश पै चढ़े चले गोधन बहु हरिकें ॥
वृहन्नला तें सारथी, बन्यो हर्ष हिय में अमित ।
कहे उत्तरा सुघर पट, लावें मम गुड़ियान हित ॥

---

* अर्जुन कह रहे हैं—"राजन् ! जिन सुहृद् श्यामसुन्दर की सहायता से अकेले ही रथ पर चढ़कर मैंने समुद्र के समान अत्यन्त दुस्तर अनन्त अपार कौरव सेना को बिना प्रयास ही पार किया था । सहस्रों सम्मोहित हुए शत्रुओं के सिर से अत्यन्त मूल्यवान् मुकुट और पगड़ी उष्णीष आदि हर लिये थे, वे श्रीकृष्ण हमें छोड़कर चले गये ।"

समृद्धिशालिनी राजधानी की महान् नगरी के बृहद् कपाट जब खुल जाते हैं, तो उनसे जैसे चित्र-विचित्र वेश वाले नर-नारी निरन्तर निकलते ही रहते हैं, उसी प्रकार अर्जुन की स्मृति रूपी नगरी के कपाट खुल गये, उनमें से कृष्ण कृपा की अनन्त कथायें निकलने लगीं। कृष्ण कृपा से जो-जो कार्य उन्होंने किये थे, जो-जो अमानुसिक पौरुष उन्होंने दिखाये थे, उनकी स्मृति मात्र से उनका हृदय भर आता और उन सबके भीतर उन्हें मूर्तिमान् अच्युत का अनुग्रह दिखाई देता।

वनवास के अनन्तर उन्हें अज्ञातवास की स्मृति हो उठी। वे बड़े ही करुण स्वर में अपने ज्येष्ठ भाई धर्मराज से कहने लगे—"राजन्! कहाँ तक कहूँ, कृष्ण कृपा का कहीं पार नहीं। हम सब पर उनकी अपार कृपा थी। हस्तिनापुर के समीप ही मत्स्य देश की राजधानी में महाराज विराट् के यहाँ हम वेष बदले छिपकर अज्ञातवास की अवधि व्यतीत कर रहे थे। जब चारों ओर हमारी खोज करा-कराके कौरव थक गये, तब दुर्योधन ने समझा हम लोगों ने वनवास के दुःखों से दुखी होकर आत्मघात कर लिया। किन्तु हम तो कछुए की भाँति अङ्ग छिपाये पड़े थे। बगुले की भाँति ध्यान लगाये राज्य रूप अपने आहार की प्रतीक्षा में आँख मूँदे मृषा समाधि लगाकर खड़े थे। घिसे अन्धे ब्राह्मण की भाँति कालक्षेप कर रहे थे। उसी समय कौरव और त्रिगर्तों ने मिलकर मत्स्य देश पर चढ़ाई कर दी। त्रिगर्त देश के राजा को अपने सेनापति कीचक की सहायता से मत्स्याधिपति महाराज विराट ने पहिले बहुत तंग किया था। अपने उसी पूर्व वैर को चुकाने के लिये सुशर्म्मा कौरवों की सहायता पाकर मत्स्य देश पर चढ़ आया। उसने एक ओर से चढ़ाई की। कौरवों ने सोचा था जब विराट अपनी सेना सहित त्रिगर्तों से लड़ने चला जायगा तब हम शून्य नगरी से समस्त गोधन और रत्न आभू-

पणों को हरकर भाग आयँगे। उन लोगों ने ऐसा ही किया। आप तो भीमसेन के सहित महाराज विराट के साथ त्रिगर्तों से लड़ने चले गये थे। इधर विराट का कुमार उत्तर अकेला ही नगर की रक्षा के लिये रह गया था। उसी समय कौरवों ने विराट की समस्त गौएँ हर लीं। गौओं के रक्षक गोपों ने आकर यह सब समाचार राजकुमार को सुनाया। कुमार उत्तर रनिवास से अपनी डींग हाँकने लगा—"यदि मेरा कोई योग्य सारथि हो, तो मैं अभी जाकर समस्त कौरव सेना को हराकर गौओं को छुड़ा लाऊँ।"

उस समय आपकी पत्नी द्रौपदी सैरन्ध्री का वेष बनाकर महलों में रहती थीं। मैं नपुंसक बृहन्नला का वेष बनाकर महाराज विराट की पुत्री उत्तरा को गाने बजाने और नाचने की शिक्षा दिया करता था। द्रौपदी के द्वारा कुमार उत्तर को मालूम हुआ, कि मैं सारथि कर्म में परम प्रवीण हूँ। उसने मेरा यथार्थ स्वरूप न समझ कर मुझसे अपना सारथि बनने का आग्रह किया। अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो जाने के कारण मैंने इसे युद्ध का उत्तम अवसर समझकर स्वीकार किया और मैं रथ जोतकर उत्तर के सम्मुख खड़ा हो गया।

जब हम सब सुसज्जित होकर चलने लगे, तो बाल चापल्य से उत्तर की बहिन उत्तरा ने मुझसे कहा—"बृहन्नला! जब मेरा भाई कौरवों को विजय करके आवे तो मेरी गुड़ियों को अच्छे-अच्छे रंग-बिरंगे बहुत-से वस्त्र अवश्य लाना।" मैंने भी विनोद में कह दिया—"दुर्योधन कर्ण आदि सभी के सुन्दर-से-सुन्दर वस्त्र हम सब तेरे लिये लावेंगे।" हँसी-हँसी में इतना कहकर और उत्तर कुमार के रथ को हाँककर मैं कौरव सेना की ओर चला। वर्षा कालीन घनघोर घटाओं के समान सर्वत्र छाई हुई, समुद्र के समान उमड़ती हुई कौरवों की अपार सेना को

देखकर बालक उत्तर के छक्के छूट गये। उसके शरीर से पसीना बहने लगा। डर के मारे वह थर-थर काँपने लगा। डरते-डरते उसने कहा—"बृहन्नले! तुम शीघ्र ही मेरे रथ को नगर की ओर लौटा ले चलो। मुझमें इन योद्धाओं से लड़ने की सामर्थ्य नहीं। हमारी गौओं को यदि ये ले जाते हैं, तो ले जाने दो। गौएँ और भी आ जायँगी। जीवन रहेगा तो ऐश्वर्य फिर भी प्राप्त हो सकता है।"

मैंने उस बच्चे को बहुत प्रकार से समझाया, भाँति-भाँति से ढाँड़स बँधाया, वीरता के वाक्य कहकर आश्वासन दिया। वीरों का धर्म बताया, युद्ध का मर्म बताया, युद्ध से पराङ्मुख होना क्षत्रिय के लिये महान अधर्म है, यह भी सुझाया, किन्तु उसने मेरी एक भी बात न मानी। वह इतना भयभीत हो गया था कि मुझे रथ लौटाते न देखकर अकेला ही रथ से कूद कर भाग निकला। मैंने रथ खड़ा करके दौड़कर उसे पकड़ा। वह अत्यन्त ही व्याकुल हो गया और मेरी भाँति-भाँति से अनुनय विनय करने लगा। विविध प्रकार के प्रलोभन देने लगा। तब मुझे हँसी आ गई, मैंने कहा—"बच्चे! तुम डरो मत, युद्ध मैं करूँगा। तुम मेरा रथ हाँकना।"

उसने डरते-डरते कहा—"आप तो नपुंसक हैं, गाने नाचने वाला युद्ध करना क्या जाने। तुम स्वयं डूबोगे और साथ ही मुझे भी डुबाओगे।"

उसे अत्यन्त ही भयभीत और काँपते देखकर मैंने अपना परिचय देते हुए बताया—"मैं नपुंसक नहीं। गांडीव धनुषधारी श्रीकृष्ण का सखा अर्जुन हूँ। भगवान् वासुदेव की कृपा से मैं सब कुछ करने में समर्थ हूँ। इस इतनी बड़ी सुसज्जित सेना को मैं अकेला ही पराजित कर सकता हूँ। कृष्ण कृपा से मेरे लिये

कोई कार्य कठिन नहीं। कोई अकार्य नहीं। कुछ भी असंभव नहीं, तुम निर्भय हो जाओ।"

अनेक प्रकार के प्रश्न पूछने के अनन्तर और शमी वृक्ष पर छिपे मेरे गांडीव धनुष को देखकर जब उसे पूरा विश्वास हो गया कि ये अर्जुन हैं, तब उसने मेरी बात मान ली और मेरा सारथी बनना स्वीकार किया।

मैंने अपने गांडीव धनुष पर रौंदा चढ़ाकर महान् टङ्कार की। मेरे धनुष की टङ्कार सुनकर कौरवों के छक्के छूट गये। वे समझ गये, कि यह प्रलय कालीन अन्तक के समान अर्जुन ही हमसे युद्ध करने आ रहा है। उस समय गांडीव धनुष को लिये हुए त्रैलोक्य विजयी, भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन आदि प्रबल पराक्रमी प्रसिद्ध योद्धाओं के सम्मुख मैं अकेला ही युद्ध करने को उपस्थित हुआ। कहाँ एक ओर अनेकों अक्षौहिणी सेना से सुसज्जित सकल संसार संहारक सैकड़ों शूर वीर सेनापतियों का झुण्ड और कहाँ एक ओर मैं अकेला! किन्तु मुझे तो भगवान् का भरोसा था, द्वारिकाधीश का आश्रय था। बलराम के भाई का बल था। कृपासागर की कृपा का अवलम्ब था। मैं न डरा न घबड़ाया, निर्भय होकर उन सबको युद्ध के लिये ललकारा।

मुझे युद्ध को आया देखकर कौरव सैनिक आपस में ही वाद-विवाद करने लगे। कर्ण मुझे तुच्छ बना रहा था। कृपाचार्य मेरी प्रशंसा कर रहे थे, कोई कुछ कहता कोई कुछ, इस प्रकार परस्पर में ही वाद-विवाद बढ़ते देखकर बूढ़े पितामह भीष्म ने सबको शान्त किया और वे सब मिलकर मुझसे युद्ध करने आये।

राजन्! उस समय घनघोर युद्ध हुआ। सभी सैनिक पूरी शक्ति लगाकर मुझे पराजित करने का प्रयत्न कर रहे थे। सभी सम्पूर्ण

बल लगाकर मुझे पछाड़ना चाहते थे, किन्तु नन्दनन्दन आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण की अपारअनुकम्पा से उनका मनोरथ सुफल न हो सका। कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भीष्म, दुर्योधन सभी एक के पश्चात एक मुझसे लड़ने आये, किन्तु मैंने सभी को परास्त किया। सभी युद्ध से भय खाकर भाग गये। सबके पराजित हो जाने पर कर्ण फिर सम्हलकर मुझसे लड़ने आया। उस समय किसी को मार डालने का तो मेरा अभिप्राय ही नहीं था, मैं तो केवल उन्हें पराजित करके विराट् की गौओं को लौटाना चाहता था। इसीलिये किसी भी सेनापति को मैंने मारा नहीं। हाँ, सैनिक तो मरने ही को थे। जब सब पराजित हो गये तो मैंने अपना दिव्य मोहनास्त्र छोड़कर सभी को मोहित कर दिया। सभी संज्ञा शून्य होकर समर भूमि में मृतक तुल्य बन गये। मैंने कुमार उत्तर से कहा—"बेटा! तुम जाओ और इन सब मूर्छित और मोहित हुए मुख्य-मुख्य वीरों के मणिमय मुकुटों को और सुन्दर-सुन्दर चमकते हुए रेशमी उत्तरीयों को उत्तरा के लिये उतार लाओ। हम जाकर तुम्हारी बहिन उत्तरा को ये चमकते हुए वस्त्राभूषण देंगे, इन्हें पाकर वह बच्ची बहुत प्रसन्न होगी। मुदित मन से इन्हें लेकर वह गुड़ियों को पहिनावेगी उल्लास, के साथ खेलेगी।"

मेरी आज्ञा पाकर उत्तरकुमार रथ खड़ा करके सभी के अमूल्य वस्त्राभूषणों को उतारने लगा। सबके उतारते-उतारते जब वह पितामह भीष्म की ओर बढ़ा, तो मैंने उसे रोकते हुए कहा—"बच्चे देखो, उधर मत जाना। ये भीष्म मेरे रक्षक भगवान् वासुदेव के परम भक्त हैं। संसार में न इन्हें कोई पराजित कर सकता है न संमोहित। इस सम्मोहनास्त्र से भी ये भगवान् की कृपा से मोहित नहीं हुए हैं, सावधान ही हैं। इनकी ओर हाथ बढ़ाओगे, तो अपने प्राणों को गँवाओगे।"

मेरी बात सुनकर उत्तर जैसे गढ़ा था, वैसे ही लौट आया। उसने पितामह के वस्त्र, मुकुट लेने का विचार छोड़ दिया।

राजन् ! उस समर में कैसा अद्भुत काण्ड हुआ, दुर्योधन का सभी अभिमान चूर हो गया। कौरवों का सभी मनोरथ विफल हो गया। त्रिगर्तों के साथ की हुई सम्मति सफल नहीं हुई। न तो हाथों धन ही लगा न वे महाराज विराट की गौओं को ही ले सके। उलटे उन्हें पराजय का ही सामना करना पड़ा। जब सभी सैनिकों को मैंने मोहित देखा, तो अपनी गौओं के रक्षक गोपालों से बोला- "अपनी सब गौओं को हाँक ले चलो।" मेरा इतना कहना था, कि सभी गोपालों ने गौएँ हाँक दीं। गौएँ भी शत्रुओं के पंजों से मुक्त होकर अपनी-अपनी पूँछों को उठा कर नगर की ओर अत्यन्त शीघ्रता के साथ भागने लगीं

इसी प्रकार राजन् ! जिस इतने बड़े कौरव सैन्यसागर को मैंने जिनकी कृपा से हँसते हुए, हेला के साथ, बात की बात में पार कर लिया, जिनके अनुग्रह से भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, दुर्योधन जैसे वीर मुझे तृण के समान दिखाई दिये, वे ही भगवान् वासुदेव हमें छोड़कर अपने धाम को पधार गये। अब मेरा न वह बल रहा न तेज। न वह शक्ति रही न साहस, अब तो मैं निर्बल और साहसहीन हो गया। राजन्! अब हमें भी उसी पथ का अनुसरण करना चाहिये।" इतना कहते-कहते अर्जुन का कंठ रुद्ध हो गया।"

छप्पय

उत्तर उतही चल्यो जायँ कौरव गौ लूटें।
सेना लखी महान कुँवर के छक्के छूटें॥
निज परिचय करवाइ युद्ध की करी तयारी।
संधान्यो गांडीव शत्रु सेना संहारी॥
लही विजय मूर्छित करे, मुकुट वस्त्र गोधन लये।
करे काज जिन कृपातें, हाय! कृष्ण वे तजि गये॥

महाभारत युद्ध में की हुई कृपा का वर्णन

[५८]

यद्दोष्षु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नो पस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥*
(श्री भा० १ स्क० १५ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

कैसी किरपा करी हमारे ऊपर रन महँ ।
भीष्म द्रोण सम वीर बाण तकि मारहिँ तनमहँ ॥
जाहिँ सर्र करि निकरि तनिक तनमहँ नहिँ लागैं ।
लागत मेरे बाण शत्रु रण तजि सब भागैं ॥
मेरे रथ पै बैठिकैं, सबकूँ निरबीरज कर्यो ।
दृष्टि डारि मृत सरिस करि, ओज, तेज, वय बल हर्यो ॥

---

* अर्जुन कह रहे हैं—"राजन् ! जिन भगवान् वासुदेव की भुजाओं के आश्रय में रहने से द्रोण, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और बाह्लीक आदि बलवान् वीरों के द्वारा छोड़े हुए अमित प्रभाव वाले अमोघ अस्त्र, उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सके, जिस प्रकार दैत्यों द्वारा छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्र नृसिंह भगवान् के दास प्रह्लादजी को स्पर्श नहीं कर सके थे। वे ही श्यामसुन्दर अब मुझे दुर्बल बनाकर स्वधाम पधार गये।"

शस्त्र स्वयं मारने में समर्थ नहीं जब तक कि उन्हें कोई सविधि छोड़ने वाला न हो। कठपुतली स्वयं नृत्य नहीं कर सकती, जब तक उसे कोई नचाने वाला न हो। यही सब सोचकर महाभारत युद्ध के समय की कृपा स्मरण करते हुए। अर्जुन फिर आँसू पोंछकर धैर्य धारण करके कहने लगे—

"राजन्! भगवान जब तक इस धराधाम पर विराजे तब तक कोई क्षण ऐसा नहीं बीता, जब उन्होंने हमारी सुधि न ली हो, हमें विपत्ति से न बचाया हो, हमें विपत्ति सागर तरने में सहारा न दिया हो। कंस को मारते ही उन्होंने तुरन्त मामा अक्रूरजी को हमारे पास हमारी सुधि लेने भेजा। तब हम पितृहीन अनाथ बच्चे ही थे, हमने तब तक श्यामसुन्दर के दर्शन भी नहीं किये थे। तभी हम समझ गये. ये ही हमारे सर्वस्व हैं, हमारे सिर पर उन्हीं का हाथ सदा बना हुआ है।

महाभारत युद्ध के समय स्वयं निःशस्त्र रहते हुए भी असंख्यों अस्त्र-शस्त्र वाले योद्धाओं से भी बढ़कर कार्य उन्होंने किया। न लड़ने पर भी लड़ाई के मुख्य पात्र वे ही थे। काठ की बनी पुतलियाँ नाचती हैं, अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखाती हैं, एक आदमी वहाँ चुपचाप बैठा बिना आश्चर्य और विस्मय के उस नृत्य को देखता रहता है। अन्य दर्शक समझते हैं. यह भी कोई हमारी ही भाँति दर्शक है. किन्तु उसका एक हाथ छिपा रहता है, उस हाथ में ही उन निर्जीव पुतलियों की बागडोरी रहती है, उसी के संकेत पर वे सब नाचती हैं। उन गतिहीन पुतलियों में गति उस उदासीन के समान बैठे हुए पुरुष के द्वारा ही होती है। दर्शक उन निर्जीव कठपुतलियों को भाँति-भाँति के हाव-भाव दिखाकर नाचते हुए निरख कर परम विस्मित होते हैं, महान् आश्चर्य करते हैं किन्तु उन्हें पता नहीं कि यह सबके सामने निश्चेष्ट-सा बैठा व्यक्ति ही सब नाच नचा रहा है, यही बैठा-बैठा

मंत्र फूँक रहा है। यही अपने छिपे हाथ के झटके से सब कौतुक दिखा रहा है। इसी प्रकार महाभारत में सब किया कराया उन्होंने, संसार में प्रसिद्धि यह हुई कि अर्जुन ने इतना भारी महाभारत युद्ध जीता, इतने बड़े-बड़े शूर वीर योद्धाओं को मार कर सुरपुर पठाया! राजन्! आप ही सोचिये उसमें मेरा था ही क्या?

विराट् नगर में गौ-हरण के युद्ध के समय जब हम सबके सम्मुख प्रकट हुए, तब तक अज्ञातवास की अवधि बीत चुकी थी। दुर्योधन के हृदय में तो पाप था, वह तो किसी भी भाँति हमें राज्यभ्रष्ट करना चाहता था, हमारा पैतृक राज्य देने की उसकी आन्तरिक इच्छा नहीं थी, इसीलिये उसने भाँति-भाँति के बहाने बनाये। कहने लगा—"अज्ञातवास की अवधि के पूर्व ही पांडव प्रकट हो गये। अतः वे नियमानुसार फिर बारह वर्ष बनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करें। पितामह भीष्म ने गणना करके उसे भाँति-भाँति से समझाया, कि पांडव अवधि के पूर्व प्रकट नहीं हुए, किन्तु अज्ञातवास के वर्ष से कुछ समय और भी अधिक हो गया है। किन्तु उसने किसी की भी बात न सुनी, वह अपनी हठ पर अड़ा ही रहा। अन्त में युद्ध होना ही स्थिर हुआ। दोनों ओर से सैन्य-संग्रह होने लगा। दुर्योधन अधिकारारूढ़ था, हम सब राज्यभ्रष्ट और साधनहीन थे, फिर भी धर्मात्मा राजा श्रीकृष्ण की सहायता से उनकी प्रेरणा से हमारी ओर लड़ने को तैयार हुए। शेष सभी बलवान् वीरों को सेना सहित दुर्योधन ने अपनी ओर मिला लिया। इस प्रकार उसकी ओर ११ अक्षौहिणी सेना हो गई और हमारी ओर सात ही अक्षौहिणी रही। किन्तु मेरे रथ के सारथि गोपीजनवल्लभ वृन्दावन विहारी श्यामसुन्दर थे। मैंने उनसे कहा—"वासुदेव, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के, बीच में खड़ा कीजिये। मैं देखना

चाहता हूँ, किन-किन शूर-वीरों से मुझे युद्ध करना होगा।"

मेरी आज्ञा पाते ही उन्होंने तुरन्त ही घोड़ों की वागों को खींचा और बात-की-बात में मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीचो-बीच में लाकर खड़ा कर दिया। दो समुद्र जैसे मिलने को बड़े वेग से आ रहे हों, उसी प्रकार मैंने उभय पक्षीय सेना के वीरों को परस्पर में भिड़ने के लिये उत्सुक देखा। जब मेरी कौरव पक्षीय वीरों के ऊपर दृष्टि गई, तो मेरा सभी उत्साह भंग हो गया। भय से नहीं, कायरता से नहीं, मुझे बन्धु-बान्धवों के मोह ने कृपण बना दिया था। मैं जहाँ तक अपनी दृष्टि दौड़ाता वहाँ तक सब अपने सम्बन्धी-ही-सम्बन्धी दिखाई देते। वे सबसे आगे, सबके सेनापति, सफेद दाढ़ी और केश वाले, साक्षात् वीरता की मूर्ति कौरवों के प्रधान सैन्य संचालक पितामह भीष्म खड़े हैं, ये हमारे सगे पिता-के-पिता ही तो हैं। इन्होंने पुत्रवत् हमारा पालन किया है। जब हम धूलि भरे वस्त्रों से निःशंक इनकी गोदी में चढ़कर इनके शुभ्र स्वच्छ वस्त्रों को मलिन बना देते थे, तो ये हम पर क्रोध न करके कितने प्रेम से हमारा मुँह चूमते थे। कितने स्नेह से ये हमें छाती से चिपटाते थे। आज उन्हीं से लड़ना पड़ेगा। इन्हीं की छाती में तीक्ष्ण वाण मारने पड़ेंगे। यह मुझसे न होगा। मैं राज्य के लिये यह क्रूर कर्म कभी न करूँगा।

इनके समीप ही जो वीरता और ब्रह्मतेज की साकार मूर्ति के समान ये दुबले-पतले, किन्तु कठोर पूजनीय विप्रदेव खड़े हैं, ये ही तो हमारे गुरुदेव द्रोण हैं। इन्हीं आचार्य चरणों के अनुग्रह से तो हमें समस्त अस्त्र-शस्त्र प्राप्त हुए हैं। मुझे बली बनाने वाले, त्रैलोक्य विजयी के नाम से प्रसिद्ध कराने वाले ये ही तो भगवान् गौतमनन्दन हैं। कितना स्नेह रखते थे, ये हम पर। मेरे साथ कितना पक्षपात करते थे, ये आचार्य समदर्शी। जब हम

श्रद्धांजलि के पुष्प लेकर इनके चरणों मे इन्हें चढ़ाकर अपने जगमगाते मुकुट के सहित सिर को इनके पादपद्मों मे रखते, तब ये कितने स्नेह से कहते—"वत्स! आयुष्मान् हो।" क्या वे ही गुरुदेव आज हमसे लड़ेंगे? क्या आज हम उनकी बाणों से पूजा करेंगे? क्या आज हम उन्हें अपने ही बाणों से रक्तरंजित हुआ देख सकेंगे? यह पाप मैं अपने हाथों कभी नहीं कर सकता।

यह सूतपुत्र कर्ण यद्यपि क्रूर है, सदा हमसे प्रतिस्पर्धा ही किया करता है, फिर भी हमारा सहाध्यायी भाई भी है। हम सब एक ही आचार्य के शिष्य हैं। राजन् तब तक मुझे पता नहीं था, हम गुरु भाई ही नहीं सगे माँ जाये भाई हैं। वे महाभाग कर्ण सूतपुत्र नहीं, किन्तु आपसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ और सम्माननीय मेरे श्रद्धेय आर्य बन्धु हैं। तब तक मैं उन्हें संसार का एक अद्वितीय धनुर्धर और संसार में एकमात्र अपना प्रतिस्पर्धी वीर ही समझता था। यद्यपि मैं उनकी बढ़ती हुई ख्याति से सदा भयभीत ही रहता था, फिर भी उन्हें मार डालने की इच्छा मेरे मन में न हुई। क्यों इन इतने बड़े वीर का व्यर्थ प्राण लिया जाय।

ये अश्वत्थामा हैं। मेरे गुरु पुत्र हैं। सगे भाई के समान हैं। विद्या में, वर्ण में, वय में, बल पराक्रम में मुझसे ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, मेरे पूजनीय हैं, सम्माननीय हैं। ब्राह्मण होकर भी ये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध करने के लिये खड़े हैं। इन्हें मारने के अनन्तर जो राज्य मिलेगा, वह तो ब्रह्मरक्त से सना, भूत प्रेतों का भक्ष्य होगा। उसे भोगकर हम कैसे सुखी होंगे? मैं गुरुपुत्र तथा ब्राह्मण को कभी मार नहीं सकता, चाहें ये मुझे भले मार दें।

ये हमारे मामा शल्य खड़े हैं। हम इन्हें अपने सगे मामाओं

से भी बढ़कर प्यार करते हैं। ये हमारी दूसरी माँ नकुल सहदेव की जननी माद्री के भाई हैं। मद्र देश से जब ये हमें देखने आते थे, तो कितने सुन्दर-सुन्दर उपहार लेकर आया करते थे। जब हम इन्हें दूर से ही आते हुए देखते, तो दौड़कर माँ कुन्ती के पास उछलते-कूदते जाते और हड़बड़ाहट में उनसे लिपट कर हाँपते हुए कहते—"माँ! माँ! मामाजी आये हैं!" इतना कहकर फिर द्वार पर दौड़ जाते और उनसे लिपट जाते। ये हमें गोद में उठाकर अपने पुत्र के समान प्यार करके, मुँह चूमते और बहुत से उपहारों को सामने रखकर पूछते—"अर्जुन! बता भैया, तुझे कौन-सी वस्तु प्रिय है? बोल तू इनमें से कौन-सी चीज लेगा। मैं झट से एक दो उठा लेता ये हँस जाते, पुचकारते, प्यार करते। आज ये धनुष बाण लिये हमारे प्राण लेने को उतारू हैं। मामा तो हँसी में भी भानजे को नहीं मारते, ये चाहें मारें, मैं इन पर अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सकता।

ये दुर्योधन हैं। इनकी प्रकृति क्रूर है, इनका स्वभाव निन्दित है, किन्तु किया क्या जाय? अपने अङ्ग की उँगली टेढ़ी हो, तो उसे काट थोड़े ही देते हैं। आँख यदि कानी हो, भैंड़ी हो तो उसे निकाल कर थोड़े फेंक देते हैं। कुछ भी हो ये मेरे सगे ताऊ के लड़के हैं। अवस्था में मुझसे बड़े हैं, अनेकों बार मैंने इनके पैर छुए हैं, बनावटी ही सही शिष्टाचार से ही क्यों न किया हो, इन्होंने मुझे प्यार किया है। आज ये सम्राट पद पर आसीन हैं। ग्यारह अक्षौहिणी सेना के स्वामी हैं। इन्हें मारकर इनके भोगे हुए जूठे राज्य को हमने प्राप्त भी कर लिया, तो क्या उससे हम सुखी होंगे? इनकी रानियों को विधवा बनाकर उनकी उष्ण निश्वास से क्या हमारे हृदयों पर फफोले नहीं पड़ जायँगे? यदि ये सम्राट बनने में ही सन्तुष्ट हैं, तो बने रहें। हम जैसे अब तक भीख माँगकर निर्वाह करते रहे हैं, आगे भी वैसे ही कर लेंगे। कितने

दिन जीना है, इस क्षणभंगुर जीवन के लिये ऐसा क्रूर कर्म क्यों करें। क्यों अपने एक रक्त के भाई का वध करके कुलहत्या का कलङ्क अपने सिर पर चढ़ावें।

इस प्रकार सभी बन्धु-बान्धवों को देखकर मुझे मोह हो गया, मैंने गाण्डीव धनुष धर दिया। तर्कस तूणीर उतार कर फेंक दिये और अपने सारथि श्यामसुन्दर से बोला—"वासुदेव! मेरे रथ को हस्तिनापुर ले चलो।"

चकित होकर वे बोले—"क्यों, वहाँ कुछ भूल आये क्या? युद्धारम्भ के समय यह तुम्हें क्या सूझी?"

अयमनस्क होकर मैंने कहा—"मैं युद्ध नहीं करूँगा।"

आँखें फाड़कर, सूखी हँसी हँसकर, मेरी अवज्ञा-सी करते, वे संसार नाट्यस्थली के सूत्रधार बोले—"क्यों डर गये क्या? बस बोल गई कुकूड़कूँ? इतने ही गहरे पानी में थे?"

मैंने अत्यन्त रोष के साथ कहा—"घनश्याम! आप मेरी हँसी न करें। शूलपाणि-पिनाकपति भगवान् भूतनाथ को जिसने युद्ध में सन्तुष्ट किया हो, वह अर्जुन इन मर्त्यलोक के प्राणियों स डर सकता है? जिसने अकेले ही निवात कवचों और हिरण्य-पुरवासी देवताओं से भी अवध्य-दैत्यों का, क्रीड़ा के साथ वध कर दिया हो, वह अर्जुन मनुष्यों से डरने वाला है? डर से नहीं, दयावश मैं अपने इन बन्धु-बान्धवों को मारना नहीं चाहता।"

कुछ व्यङ्ग के स्वर में वे श्यामसुन्दर बोले—"बड़े दयावान् हो भैया, फिर तुमने दया करके महाराज पाण्डु को क्यों नहीं बचा लिया?"

मैंने कहा—"तब तो मैं छोटा-सा अबोध बालक ही था, और फिर बड़ा भी होता, तो काल से किसका वश चलता है। अवश्यम्भावी मृत्यु से कौन बचा सकता है?"

वे बोले—"तब जब तुम मृत्यु से नहीं बचा सकते, तो डरते

क्यों हो ? ये सदा जीते ही रहेंगे । तुम दया करके छोड़ दोगे, तो ये अजर-अमर ही बने रहेंगे क्या ?"

मैंने बल देकर कहा—"अपनी मृत्यु से मर जांय यह दूसरी बात है । हम व्यर्थ की हत्या क्यों लें । काल के वशीभूत होकर ये मरेंगे, तो पाप न लगेगा ।"

तब वे खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"भैया, अरे अर्जुन ! तू समझता नहीं, इतने दिन साथ रहकर भी तू अज्ञानी ही बना रहा । मैं ही तो काल स्वरूप हूँ । मैं ही आज समस्त लोकों का संहार करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ । मैं ही तो तुझे निमित्त बनाकर सबका संहार करा रहा हूँ । तेरी क्या शक्ति है, जो भीष्म, द्रोण जैसे वीरों के सम्मुख खड़ा हो सके ? तेरे रथ पर बैठकर ही मैं सबको निस्तेज और मृतवत बना रहा हूँ । तू न भी लड़ेगा, तो भी ये तो मारे ही जायँगे । ऐसा हो भी नहीं सकता कि तू न लड़े । मैंने तो तेरे द्वारा ही इनकी मृत्यु निश्चित कर दी है । यदि अहङ्कार के वशीभूत होकर तू युद्ध से हटना भी चाहेगा, तो तेरी प्रबल वेगवती प्रकृति तुझे हठात् इस कार्य में नियुक्त कर देगी । ये सब मरे हुए हैं । केवल तुझे प्रतिष्ठा दिलाने को, तेरा सम्मान कराने को, तेरे बाणों से मैं इन्हें फिर मरवाना चाहता हूँ । इसलिये हे वीर ! कायरता का परित्याग करो और मेरे कहने से युद्ध करो ।"

उस समय इच्छा न रहने पर भी मुझे लड़ना पड़ा । उनकी नखों के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा । उनके ज्ञान के झण्डे के नीचे विवश होकर नमना पड़ा । राजन ! वे मेरे रथ को क्या चला रहे थे, मानों दो चक्कों वाले काल-चक्र को चला रहे हों । जैसे बिजली जिसके ऊपर भी गिर पड़ती है, उसी का संहार कर देती है, उसी प्रकार उनके नेत्र जिसकी ओर भी उस समय पड़ जाते थे, वही हतवीर्य होकर मृतवत् बन जाता था ।

कौरवपक्षीय समस्त योद्धाओं ने सम्पूर्ण बल बटोर कर पूरी शक्ति लगाकर मुझ पर प्रहार किये। वे सभी अस्त्र-शस्त्र अमोघ थे, कभी भी व्यर्थ होने वाले नहीं थे, किन्तु कृष्ण कृपा से वे मुझे स्पर्श तक न कर सके। मेरे समीप होकर सरे से निकल जाते। सभी महारथी मुझे ही लक्ष्य बनाकर बाण-वर्षा करते, किन्तु उनकी वर्षा उसी प्रकार व्यर्थ हो जाती, जैसे गोवर्धन धारण के समय की, की हुई वर्षा व्यर्थ हो गई थी। नृसिंह भगवान् ने तो अपने तीक्ष्ण नखों से हिरण्यकशिपु का पेट फाड़ा था, किन्तु इन्होंने तो अपनी दृष्टिमात्र से ही सबके हृदय फाड़ दिये थे। सबको हृदय-हीन, बलहीन और क्षीण आयु बना दिया। जिस प्रकार प्रह्लाद को मारने के लिये हिरण्यकशिपु की आज्ञा से दैत्यों ने भाँति-भाँति के उपाय किये. उन्हें जहर पिलाया गया, सर्पों से डसाया गया, पहाड़ से गिराया गया, समुद्र में डुबाया गया, अग्नि में जलाया गया तथा और भी अनेकों यातनायें दी गईं किन्तु उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। उसी प्रकार दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये भीष्म, द्रोण, कर्ण शल्य, आदि सेनापतियों ने मुझे अनेक प्रकार के अमोघ अस्त्र छोड़कर परास्त करना चाहा, किन्तु वे सभी अस्त्र कुण्ठित और व्यर्थ बन गये। मेरा वे कुछ भी न बिगाड़ सके। जो मेरे रथ पर बैठकर सदा मेरी रक्षा करते रहे, शत्रुओं के तेज बल को हरते रहे और मुझे बाणों से बचाते रहे, आज वे मुझे बीच मझधार में तड़फता छोड़कर मेरी आँखों से ओझल हो गये। मेरे सामने से अदृश्य हो गये। उनके बिना मुझे सम्पूर्ण संसार सूना-सूना दिखाई देता है। राजन्! अब यह संसार उसी प्रकार सारहीन धान के तुष के समान हो गया है, जिसमें से चावल निकाल लिया हो। अब हमारी बात पूछने वाला जगत् में कोई नहीं। अर्जुन यह कहते-कहते विकल हो गये।

छप्पय

बार-बार यों कहैं फिरैं रणमहँ लै मोकूँ ।
शत्रु पक्ष के अस्त्र परसि पावैं नहिँ तोकूँ ॥
दरसावैं निज कला विविध विधि रथकूँ हाँकैं ।
तजैं तेज बल वीर जाहि तिरछे ह्वै ताकैं ॥
राजन् ! रण में काल बनि, सहारे सबही जने ।
अवनि त्यागि अब अखिलपति, वर बिकुण्ठवासी बने ॥

हाय ! मैंने हरि से रथ हँकवाया

[५६]

सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे,
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठम्,
न प्राहरन्यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

जिनके कमल समान, पूजि पग मुनि न अघावें।
हृदय कमल महँ ध्याइ, पार भवसागर जावें ॥
नहिँ पूजे पद पद्म निन्द्य कारज करवायो।
मनमोहन तें महामोह वश रथ हँकवायो ॥
समुझि सक्यो नहिँ श्याम कूँ, मोह्यो तव मैं मन्दमति ।
हाय लुट्यो वञ्चित भयो, हृदय फटत मन दुखित अति ॥

* पश्चात्ताप करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—"हाय ! जिन पाद-पद्मों का ध्यान ज्ञानी पुरुष मोक्ष के निमित्त करते हैं। उन्हीं जगत के स्वामी को मुझ मन्दमति ने अपना सारथि बनाया—घोड़ों की रास पकड़ा कर रथ हँकवाया। जयद्रथ वध के दिन जब मेरे घोड़े थक गये थे, तब जिनकी आज्ञा से बीच युद्ध में दिव्यास्त्रों से सरोवर बनाकर मैं रथ से उतरकर पृथ्वी पर खड़ा हो गया था। उस समय शत्रु पक्ष के महारथी मिलकर मुझे मार सकते थे, किन्तु जिनके प्रभाव से मुग्ध चित्त होकर वे कुछ भी मेरा बिगाड़ न सके, वे ही श्यामसुन्दर आज मुझे छोड़कर चले गये।"

नित्य निरन्तर साथ रहने से बड़ों से भी हम निर्भीक हो जाते हैं, उनसे उतना संकोच नहीं रहता। फिर जो बड़े स्वयं अपने को बड़ा न समझ कर बराबरी वालों का सा ही बर्ताव करते हैं, उनसे तो कुछ भेद-भाव रहता ही नहीं। हम उनकी कृपा और उदारता के कारण उनका महत्व भूल जाते हैं और बराबरी का-सा व्यवहार करने लगते हैं। जब वे छोड़कर चले जाते हैं, तब उनका महत्व स्मरण होता है और उसकी सभी बातें हमारे हृदयपटल पर चलचित्र के समान आ-आकर नृत्य करने लगती हैं। यदि कभी भूल में स्वार्थवश हमने उनसे किसी अयोग्य कार्य करने का प्रस्ताव कर दिया हो और उन्हें स्नेह पूर्वक यह कहकर निषेध कर दिया हो, कि भैया, देखो— यह काम मेरी पद प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है, इसे मुझसे मत कराओ। तब पीछे हमें सन्तोष होता है, कि उन्होंने उस समय हमें पाप से बचा लिया। इसके विपरीत यदि वे निषेध न करके अपनी उदारता वश उस अनुचित कार्य को भी हमारे स्नेह के कारण प्रसन्नता से कर दें, तो पीछे बड़ा पश्चाताप होता है— हाय! हमने अपने स्वार्थ वश उन महान् से-महान् व्यक्ति से कैसा निन्दित कार्य कराया। उनकी पद प्रतिष्ठा पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। यह बात हृदय को रह-रहकर नोंचती है, मार्मिक पीड़ा पहुँचाती है।

भगवान् से अपना सारथ्य कार्य कराकर अब अर्जुन को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्हें भगवान् का महत्व अब मालूम हुआ, अब उन्हें ज्ञात हुआ कि जिनकी पूजा करनी चाहिये थी, उनसे मैंने भृत्य का, सेवक का, सूत का, अनुचित कार्य कराया। पहिले जो युद्ध के रथ होते थे, वे खुले हुए हुआ करते। उनमें सबसे ऊँचे आसन पर रथी बैठता था। रथी के पीछे अत्यन्त दृढ़ रथ का ध्वज दण्ड रहता था। जिसके ऊपर

अपने-अपने पृथक-पृथक् चिन्हों से चिन्हित विशाल ध्वजा फहराया करती थी। जिस ध्वजा को देखकर ही सब समझ जाते थे, कि यह अमुक का रथ आ रहा है। ध्वजा इतनी विशाल होती थी, कि योजनों से दिखाई देती थी। ध्वजा के पीछे कुछ लोगों के खड़े होने की जगह होती थी। जहाँ रथी के पृष्ठ रक्षक योद्धा अस्त्र-शस्त्र लिये उनके पृष्ठ भाग की रक्षा करते थे। दोनों पहियों के पास भी कुछ जगह होती थी। जहाँ पार्श्वरक्षक खड़े होकर उसकी दायीं बाहीं ओर से रक्षा करते थे। सामने इतनी नीची जगह पर रथ हाँकने वाला सारथि बैठता था, जहाँ रथी के दोनों पैर पहुँच सकें। सारथि के इधर-उधर कुछ सैनिक खड़े रहते थे जो सारथि और घोड़ों की रक्षा करते थे। रथ के पीछे एक छोटा-सा रथ के आकार का ही ठेला-सा और जुड़ा रहता था। जिसमें भाँति-भाँति के अस्त्र-शस्त्र भरे रहते थे, रथी पर अस्त्र चुकते ही पृष्ठ रक्षक उनमें से निकाल-निकाल कर देते जाते थे। रथ में और जो सैनिक रहते थे, वे धर्मानुसार किसी से युद्ध नहीं करते थे, उनका काम केवल आये हुए बाणों से रथी और सारथी की रक्षा करना और उन अस्त्रों का प्रतीकार करना मात्र ही था युद्ध अकेला रथी ही करता था। युद्ध के कोलाहल में रथी अपने सारथि को मुँह से आज्ञा प्रायः नहीं दिया करता था, कि मेरे रथ को दायें लौटाओ या बायें। मुँह से आज्ञा न देने के कई कारण थे। एक तो कोलाहल में सुनाई नहीं देता था। दूसरे रथी का सम्पूर्ण ध्यान शत्रुओं के संहार की ही ओर रहता था। तीसरे उसकी बात को सुनकर सम्मुख शत्रु उनका तुरन्त प्रतीकार कर सकते थे। चौथे रथ में स्थित अन्य सैनिकों का ध्यान भी बँट सकता था। इन्हीं सब कारणों से रथी मौन होकर ही आज्ञा देता था। बातें तो वह प्रायः अपने शत्रुओं से ही करता था। रथ के लोगों से वह संकेत

कार्य चलाता था।

सारथि की दोनों कनपुटियों पर रथी के पैर के अँगूठे रखे रहते थे। जिस ओर रथ घुमाने की इच्छा हुई, उधर की ही कनपुटी अँगूठे से दबा दी। सारथि तुरन्त उसी ओर रथ ले जाता था। यदि एक साथ तुरन्त पीछे रथ घुमाने का काम पड़ता, तो रथी पैर के दोनों अँगूठे में बल लगाकर सारथि का मुँह मोड़ देता जिससे सारथी तुरन्त लौटाकर भगा देता। अर्जुन भी ऐसा ही करते थे। उनके दोनों अँगूठे श्यामसुन्दर की काली-काली घुँघराली लटकी हुई लटों से ढकी कनपुटियों पर ही रहते थे। निरन्तर अँगूठों के घर से प्रतीत होते थे। आज उसी को स्मरण करके अर्जुन रो रहे हैं। हाय ! जिनके पादपद्मों की पूजा, ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ध्यानी, ब्रह्मर्षि, देवर्षि बड़े-बड़े तपःपूत पुरुष मोक्ष के निमित्त करते हैं। जिन पादपद्मों को त्रैलोक्य सुन्दरी लक्ष्मीजी डरते-डरते स्पर्श करती हैं, कि कहीं मेरे कठोर करों से कष्ट न हो, जिन पादपद्मों की पावन पराग को पाकर ब्रह्मादिक देवता भी अपने को कृत-कृत्य मानते हैं, जिनके धोवन से त्रैलोक्य को पावन करने वाली, भगवती भागीरथी उत्पन्न हुई हैं, उन प्रभु के अरुण चरणों की मैंने सिर से पूजा नहीं की। उनकी जगत् पावन पराग को मस्तक पर नहीं धारण किया। उलटे उनके ही जगद्वन्द्य मस्तक पर अपना कलुषित पैर रख-रखकर पाप बटोरा।'

वे कितने महान् थे, उनकी महानता की बराबरी संसार में कौन कर सकता है। मैंने उन्हें जो बनाया बन गये, जो कराया वही किया, जो बात कही वही सुन ली ! हाँ कितने प्यार से मुझसे बोलते थे। अर्जुन ! भैया पृथानन्दन ! मित्रवर ! हे कुरुकुल तिलक ! जब वे मुँह भरकर इन सम्बोधनों को कहते, जब मुझे भैया कहकर पुकारते, तो कितनी प्यारी लगती थी, उनकी

वाणी । उनके उच्चारण में कितना स्वारस्य था । हाय ! अब मुझसे इतने प्रेम से कौन बोलेगा ? कौन इस प्रकार कह-कहकर मेरे उत्साह को बढ़ावेगा । वे बातें जब याद आती हैं, हृदय चूर-चूर हो जाता है, छाती फटने लगती है । चित्त में उथल-पुथल होने लगती है ।

हस्तिनापुर में मैं देखता कि वे रात्रि में बड़ी देर तक बैठे ही हैं, मुझे अन्तःपुर से आने में कुछ विलम्ब हुआ उन्हें बैठे देखकर मैं पूछता—"श्यामसुन्दर ! आप अभी सोये नहीं ?" अत्यन्त स्नेह के स्वर में कहते—"भैया, अर्जुन ! तेरे बिना मुझे नींद आती ही नहीं ।" उन वासुदेव को मेरी क्या अपेक्षा थी, किन्तु उनका स्नेह था । घूमने जाते तो बच्चों की भाँति डरते-डरते आपके पास आते । जैसे छोटा बच्चा सकुचाकर अपने माता, पिता अथवा गुरु से आज्ञा माँगता है, वैसे ही आपके सम्मुख खड़े हो जाते और संकोच के स्वर में कहते—"हम लोग घूमने जाना चाहते हैं, आपकी आज्ञा हो तो चले जायँ, जल्दी ही लौट आवेंगे ।" आप जब आज्ञा दे देते, तो बड़े प्रमुदित होकर मेरे गले में गलबहियाँ डालकर चल पड़ते । उस समय वे कितनी घुल-घुल कर बातें करते थे ।

कहीं बैठना हुआ और हमारे दोनों के लिये दो आसन बिछाये गये हों, तो वे अपने आसन पर नहीं बैठते थे । मेरे आसन पर आकर मुझसे खूब सट कर बैठ जाते और हँस पड़ते । मैं कहता—"श्यामसुन्दर ! तुम्हारा लड़कपन अभी तक नहीं गया ?' इतना सुनते ही बड़े जोरों से खिलखिला कर हँस पड़ते । हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते और फिर प्यार से कहते—"अर्जुन ! मैं नहीं चाहता, मेरा लड़कपन चला जाय । मैं इसी तरह बच्चों की तरह हँसता-खेलता ही सदा बना रहना चाहता हूँ । यह लड़कपन ही तो मेरी सम्पत्ति है । हँसना

तो जीवन का व्यापार है, रोवे वह जिसकी नानी मर गई हो। मेरी नानी जीवित है नाना जीते हैं। एक नहीं सात-सात मातायें जीती हैं, सब मुझसे प्यार करती हैं। फिर मेरे रोने का क्या कारण है?"

तब मैं हँसते-हँसते कहता—"तब फिर वह जो सोलह हजार की पूरी फौज इकट्ठी कर रखी है, सो? यह सुनते ही फिर हँस पड़ते। न बुरा मानते न कभी अप्रसन्न होते। बात-बात पर हँसना, मुसकरा जाना यही उनका स्वभाव था।"

द्वारका में हम रहते, भोजन का समय हो जाता। महल से बुलावे पर बुलावे आते वे नहीं जाते। यही बार-बार पूछते—"अर्जुन कहाँ गया? अर्जुन कहाँ गया?" जब मैं आ जाता तो मुझे साथ लेकर ही जाते। एक साथ ही खाते। कभी-कभी मौज में आकर अपने सम्बन्ध की बड़ी बातें करने लगते। मैंने यह किया, मैंने वह किया, इसे मारा, उसे मरवाया। उसको पछाड़ा, उसे यमपुर पठाया। तब मैं कहता—"तुम रहने दो, अपनी बहुत डींगे क्यों हाँकते हो? यशोदा के सामने मिट्टी खाने पर झूठ बोले। डरकर मथुरा छोड़कर समुद्र में आ छिपे। बड़े सत्यवादी बने हैं। तुम्हें डींग ही मारनी हो तो उन रानियों के सामने मारा करो, जो भेड़ बकरी की तरह इतनी इकट्ठी कर रखी हैं। मेरे सामने ये आकाश पाताल के कुलावे एक मत किया करो।" उनकी स्त्रियों के सामने ऐसी बातें कहने पर भी वे कभी क्रोध न करते। इन बातों को उसी प्रकार सह लेते जैसे छोटे बच्चे के प्रहार को माँ सह लेती है। जैसे युवा पुत्र की कड़ी बातों को पिता अनसुनी करके उपेक्षा कर देता है।

जब महाभारत युद्ध होगा ही यह बात एक प्रकार से निश्चय हो गई तब आपने मुझे द्वारका में भगवान् के समीप रण निमन्त्रण देने भेजा। दुर्योधन तो सदा इसी घात में रहता था,

कि संसार के सभी योद्धा उसी की ओर से लड़ें। हमारी ओर कोई भी राजा न जाने पावे। क्षत्रियों का यह नियम होता है, कि जिसका रण निमन्त्रण पहिले पहुँचता है, उसी की ओर से युद्ध करते हैं, तो दुर्योधन किसी प्रकार श्यामसुन्दर को अपनी ओर करना चाहता था। जब उसने सुना कि मैं उन्हें निमन्त्रित करने जा रहा हूँ, तो वह शीघ्रगामी रथ के द्वारा मुझसे पूर्व ही रातों-रात चलकर द्वारका पहुँच गया। भगवान् उस समय शयन कर रहे थे। वह अभिमानी शयन गृह में ही उनके सिरहाने आकर तन कर बैठ गया। पहुँचने पर जब मुझे पता चला कि दुर्योधन तो भगवान् के शयन-गृह में ही चला गया, तो मैं भी जल्दी-जल्दी उधर ही गया। वैसे भगवान् सदा अरुणोदय पूर्व ही उठ जाते थे, किन्तु उस दिन सूर्योदय तक सोते ही रहे। जब मैं जाकर उनके चरणों के समीप बैठ गया, तो वे राम-राम नारायण-नारायण करते हुए अपनी बड़ी-बड़ी कमल के समान अरुण आँखों को मलते हुए उठे। उन्होंने दुर्योधन को देखते हुए भी नहीं देखा। मुझसे उठते ही पूछने लगे—"ओहो! आज तो अर्जुनजी आये हैं? स्वागतम्! स्वागतम्!" इतने में दुर्योधन बोल उठा—"महाराज! मैं इस अर्जुन से पहिले आकर आपकी सेवा में बैठा हुआ हूँ।"

इतना सुनते ही पीछे मुड़कर अनजान की तरह संभ्रम के साथ कहने लगे—"अहा! अच्छा! महाराज दुर्योधन भी पधारे हैं? धन्यवाद! धन्यवाद!"

दुर्योधन दृढ़ता के स्वर में बोला—"धन्यवाद, धन्यवाद तो पीछे होगी। धर्मवेत्ता क्षत्रिय पहिले आये हुए का ही निमन्त्रण स्वीकार करते हैं, अतः आपको मेरी ओर से लड़ना पड़ेगा।"

भगवान् बोले—"हाँ भाई, युद्ध का तो नियम ऐसा ही है। जो भी दोनों पक्षों में से पहिले आ जाय धर्मात्मा क्षत्रिय उसे

ही वचन देते हैं। फिर आप तो दोनों ही हमारे सम्बन्धी हैं, हमारे लिये एक-से हैं। दोनों की ही हमें सहायता भी करनी चाहिये। यद्यपि आप पहिले आ गये होंगे। इस बात को मैं मानता हूँ, किन्तु मैंने तो सबसे पहिले उठकर अर्जुन को ही देखा है, अतः आप पूर्व आने से और अर्जुन को आपसे पूर्व देखने से दोनों मेरे लिये बराबर हो गये। अब मैं दोनों की ही समान रूप से रक्षा करूँगा।"

दुर्योधन बोला—"नहीं महाराज! आप यह अन्याय कर रहे हैं। सबसे पूछ लें मैं पहिले ही आकर बैठा हूँ।"

भगवान् कुछ चिढ़कर बोले—"हाय! महाराज आप कैसी बातें कर रहे हैं। दूसरों की साक्षी क्यों लूँ। मुझे आपकी बात पर विश्वास है। आप अवश्य ही पहिले आये होंगे किन्तु मेरी दृष्टि तो उठते ही अर्जुन पर ही पड़ी। देखिये, मेरे पास करोड़ों गोपों वाली रण में कभी न पराजित होने वाली नारायनी सेना है। एक ओर तो मेरी वह नारायनी सेना और दूसरी ओर अकेला निहत्था मैं। सो मैं भी युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊँगा, लड़ूँगा नहीं, केवल ऊपरी काम सम्मति आदि दे सकता हूँ। इन दोनों में आप अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ग्रहण कर लें। अर्जुन आपसे छोटा है। वस्तुओं को पाने में बच्चे का सर्व प्रथम अधिकार होता है, बच्चों से बचने पर ही बड़े लेते हैं, अतः पहिले अर्जुन एक चीज ले लें।"

दुर्योधन समझ रहा था, कि कहीं मैंने समस्त नारायणी सेना माँग ली तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। किन्तु मुझे सेना क्या करनी थी, मैंने छूटते ही कहा—"भगवन्! मुझे सेना नहीं चाहिये आपको चाहिये।"

भगवान् मेरी ओर आश्चर्य चकित होकर बार बार देखते हुए बोले—"भैया! भली प्रकार कान खोलकर सुन लो। मैं

लड़ूँगा नहीं। रण में शस्त्र न उठाऊँगा। तुम मोह में मत फँसो, अपना हिताहित सोच समझकर तब किसी वस्तु को ग्रहण करो।"

इतने में ही दुर्योधन बोला—"महाराज! यह आप बहुत गड़बड़-सड़बड़ कर रहे हैं। जब उसने आपको स्वीकार ही कर लिया, तब आप उसे उलटी पट्टी क्यों पढ़ा रहे हैं। अब आपकी प्रतिज्ञानुसार समस्त सेना मेरी ओर हुई, आप अकेले अर्जुन के भाग में आये। अब इसमें फेर फार न होगा। मुझे यह निर्णय सहर्ष स्वीकार है।"

भगवान् फिर हँसते हुए अर्जुन से बोले—"अरे, मुझ निहत्थे को लेकर अर्जुन तुम फिर ठग गये। लड़ने वाली नारायणी सेना तुमने क्यों नहीं माँगी ?"

मैंने दृढ़ता के साथ कहा—"वासुदेव! मुझे सेना की आवश्यकता नहीं, मुझे तो आपकी आवश्यकता है।"

दुर्योधन शीघ्रता से अपने आसन से उठा और बोला—"अच्छी बात है यदुनन्दन! आप अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहें। आपकी समस्त सेना मेरी रही।" इतना कहकर वह उसी समय उठकर बलदेवजी के पास चला गया।

दुर्योधन के चले जाने के अनन्तर श्यामसुन्दर मुझे अपनी रेशमी रजाई में छिपाते हुए, मेरा दृढ़ आलिङ्गन करते हुए बोले—"*अर्जुन! भैया, तुमने सेना न माँगकर मुझ निहत्थे को क्यों* माँगा ? मुझसे तुम क्या काम कराना चाहते हो ?"

हाय! उस समय मेरी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये। उस समय श्यामसुन्दर ने मेरे विवेक को हर लिया। अपना समस्त ऐश्वर्य मेरे सामने से छिपा लिया। उस समय मुझे कहना चाहिये था—"प्रभो! मैं नित्य आपकी पूजा किया करूँगा। नित्य आपके अरुण चरणों को धोकर पीया करूँगा। युद्ध में जाते समय और

युद्ध से लौटते समय अपने पलकों से आपके पादपद्मों की पुनीत पराग को झाड़ा करूँगा। आपको अपने हृदय मन्दिर में बिठाकर सर्वदा आपका ध्यान किया करूँगा।" यह सब न कह कर मैंने कहा—"श्यामसुन्दर! तुम्हें मैं अपना सारथी बनाना चाहता हूँ। हे वासुदेव! यदि आप मुझे सारथी मिल जायँ, मेरे रथ को हाँकने वाले हो जायँ तो मैं अकेला ही त्रैलोक्य को विजय करने में समर्थ हो सकता हूँ।"

राजन्! उस समय वे मुझे डाँट देते, या स्नेह से ही कह देते—"भैया! यह काम मेरे अनुरूप नहीं। यह काम तो हीन वर्ण वाले सूतों का है।" किन्तु प्रभो! उन्होंने ऐसा नहीं कहा। अत्यन्त उल्लास के स्वर में मेरी प्रशंसा करते हुए बोले—"वाह! यह तुमने बड़ी सुन्दर बात सोची। रथ हाँकने की विद्या में तो मैं परम प्रवीण हूँ। मैं तुम्हारा रथ हाँकूँगा।"

महाराज! अब मैं सोचता हूँ, तनिक-सी विजय के लिये प्रशंसा और प्रतिष्ठा के लिये, मैंने अखिल भुवनों के ईश्वर से, जिनके पादपद्मों की पूजा बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, मोक्ष प्राप्ति के निमित्त करते हैं, उनसे तुच्छातितुच्छ सारथ्य कर्म कराया। उनके सिर पर पैर रखकर मैंने उन्हें आज्ञा दी और वे भी मेरी प्रत्येक आज्ञा का सच्चे सेवक की तरह, वेतन भोगी भृत्य की भांति-पालन करते रहे।

महाराज वह दिन मुझे कभी न भूलेगा जिस दिन अपने पुत्र को मारने वाले जयद्रथ के वध की मैंने घोर प्रतिज्ञा की थी। मेरी भीषण प्रतिज्ञा थी, कि आज सूर्यास्त तक यदि जयद्रथ को न मार सका, तो मैं जीवित ही अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। इस इतनी बड़ी विपुल सेना में से अनेकों द्रोण, कर्ण, शल्य आदि के समान वीर योद्धाओं से घिरे जयद्रथ को ढूँढ़कर निकालना और उसे मार डालना उतना ही कठिन कार्य था, जितना सर्प के

लिये सुमेरु के नीचे छिपे बिल से चूहे के बच्चे को निकालना कठिन है, किन्तु कृष्ण की कृपा से मेरी वह असंभव प्रतिज्ञा भी सम्भव हो गई। पूरी न होने वाली प्रतिज्ञा भी पूरी हो गई।

यद्यपि वे बनावटी सारथी बने थे, किन्तु उन्होंने जो भी बाना पहिना, उसी का पालन बड़ी बुद्धिमानी के साथ किया। सारथ्य कर्म इतनी निपुणता के साथ किया, कि कोई कुलपरंपरागत सारथी क्या कर सकता है। जयद्रथ वध के दिन ही सभी महारथियों ने मुझे घेर लिया। असंख्यों बाण सभी ने एक साथ मेरे ऊपर छोड़े। उस दिन सभी ने मुझे मार डालने और जयद्रथ को बचाने की प्राणपण से चेष्टा की। जयद्रथ को कोसों दूर अनेकों व्यूहों से सुरक्षित करके सबने छिपा लिया उसके पास तक मैं न पहुँच सकूँ, इसीलिये सब मुझे घेरकर बीच में ही उलझाये हुए थे। वे मेरे दिव्य रथ को तोड़ नहीं सके किन्तु घोड़ों को बुरी तरह घायल कर दिया।

बीच रणक्षेत्र में जहाँ चारों ओर से बड़े-बड़े शूर वीर योद्धा मुझे घेरे खड़े हैं, वहीं मेरे सारथी श्यामसुन्दर बोले—"अर्जुन ! अब घोड़े नहीं चल सकते।"

इतना सुनते ही मेरा मुख मलिन पड़ गया। मैंने सोचा—"आज मेरी प्रतिज्ञा पूरी न होगी, मुझे अपने आप अग्नि में जीते हुए ही प्रवेश करना पड़ेगा।" भयभीत होकर विनीतभाव से मैंने कहा—"श्यामसुन्दर ! किसी तरह भी हो मेरे रथ को जयद्रथ के सम्मुख ले चलो।" वे रुखाई के साथ बोले—"अजी, तुम कैसी बात कर रहे हो ? यदि घोड़ों में कुछ भी शक्ति होती, तो मैं कोई बात उठा रखता ? तुम देखते नहीं इनके शरीर में तिल भर भी स्थान ऐसा नहीं जिनमें बाण न घुसे हों। युद्ध करते-करते ये श्रांत हो गये हैं, अब ये एक पग भी नहीं बढ़ सकते।"

चिन्तित स्वर में मैंने कहा—"तब प्रभो ! कोई उपाय है ? कैसे हम आज प्रतिज्ञा पूरी कर सकेंगे ?"

वे बोले—"हाँ, एक उपाय है। यदि घोड़ों को पानी मिल जाय और वह पानी इतना विपुल हो, कि घोड़े उसमें तैर सकें, मैं इनकी मालिश कर दूँ, बाण निकाल दूँ, तो फिर स्वस्थ होकर ये दौड़ सकते हैं।"

बीच रण में शत्रुओं से घिरे हुए वहाँ इतना जल कहाँ हो सकता है, किन्तु उन्होंने मेरे अन्तःकरण में घुसकर प्रेरणा की। मैंने कहा—"वासुदेव ! आप रथ में से घोड़ों को खोल दें, मैं अभी यहाँ सरोवर बनाता हूँ।"

आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए वे बोले—"अरे, भैया ! तेरे चारों ओर बड़े-बड़े बलवान् शत्रु खड़े हैं, तुझे पृथ्वी में नीचे खड़ा देखकर मार डालेंगे। यह तू कैसी बात कर रहा है ?"

मैंने दृढ़ता के साथ कहा—"देवकीनन्दन ! आपके रहते हुए न तो मुझे कोई मार सकता है, न पराजित ही कर सकता है, आप मेरी परीक्षा न लें। देर करने का काम नहीं। जयद्रथ वध में विलम्ब हो रहा है।"

इतना सुनते ही द्वारकानाथ मुस्कराये। उन्होंने घोड़े ढील दिये। मैं अपना गाण्डीव धनुष तान कर पृथ्वी पर खड़ा हो गया और चारों ओर से घिरे शत्रुओं को देखने लगा। मेरे सारथी श्यामसुन्दर ने स्वयं घोड़ों के शरीर से खींच-खींच कर बाण निकाले। अपने कर कमलों से उनकी भली-भाँति मालिश की। भगवान् की मोटी-मोटी हथेलियों की गद्दियों की रगड़ से घोड़ों की सभी थकावट दूर हुई। तब मुझसे वे घोड़ों के रक्षक यदुकुल तिलक बोले—"अर्जुन ! घोड़े अब जल चाहते हैं।" मैंने अपने धनुष पर वरुणास्त्र से अभिमन्त्रित करके एक दीप्तिमान् बाण चढ़ाया और उसे तान कर पृथ्वी में छोड़ा।

देखते-देखते पलक मारते ही वहाँ सुन्दर, स्वच्छ जल वाला एक मनोहर सरोवर बन गया। भगवान् यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने घोड़ों को उसमें जल पिलाया। स्वयं घोड़ों के साथ उस अगाध सरोवर में घुस गये। मलते हुए उन्हें जल में तैराया। तैरकर जब घोड़ों ने फुरहरी ली, तभी उनकी सभी क्लान्ति तथा थकावट मिट गई। भगवान् मेरी प्रशंसा करते हुए बोले—"वाह ! अर्जुन ! तुम धन्य हो।" मेरे इस आश्चर्य-जनक कार्य को देखकर सभी शत्रु भौंचक्के से रह गये। वे मेरे ऊपर प्रहार करना भूल गये और एकटक होकर मेरे और श्यामसुन्दर के कार्यों को कुतूहल की दृष्टि से देखते-के-देखते ही रह गये।

इस प्रकार हे भरतकुलभूषण, महाराज ! भगवान् ने कैसे-कैसे स्थानों में मेरी रक्षा की। कैसे-कैसे संकटों से मुझे बचाया। गर्भस्थ बालक की जैसे माता सावधानी से रक्षा करती है, उसी प्रकार वे मेरी सदा रक्षा किया करते थे। ऐसे जगत्पति को मैंने लोभवश, प्रशंसा और प्रतिष्ठा के लिये, क्षणमात्र के सम्मान के लिये युद्ध में सारथी बनाया। अब तक मुझे अभिमान था, महाभारत युद्ध में मेरे बाहुबल से ही विजय प्राप्त हुई, मैंने ही अपने तीक्ष्ण बाणों से भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे महारथियों को पराजित किया है, किन्तु अब मुझे प्रतीत हो गया कि वह मेरी विजय न होकर श्यामसुन्दर की विजय थी। मैंने उन्हें न मारकर काल स्वरूप श्रीकृष्ण ने ही उन्हें अपनी दृष्टि-मात्र से मारा था, उनके बिना मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं तो वही हूँ, किन्तु आज मुझे जङ्गली भीलों ने हरा दिया। श्रीकृष्ण के रहित होने पर मेरे धनुष-बाण सब धरे के धरे ही रह गये। मेरे सभी अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित हो गये। आज उस तपस्विनी का शाप सत्य हुआ। आज मैं नगण्य पुरुषों से परा-

जित हुआ। आज मेरा भी बड़ा हुआ अभिमान चूर-चूर हो गया। राजन् अब आगे संसार में अपमान ही अपमान देखना हो, पापियों से पराजित होना हो, तब तो इस पृथ्वी पर रहिये, नहीं तो शीघ्र ही उत्तराखण्ड की ओर प्रस्थान करें। अब कलियुग आ गया, अब पृथ्वी रहने योग्य नहीं रही।" इतना कहकर अर्जुन रोने लगे।"

छप्पय

कहूँ कहाँ तक प्रभो! श्याम मोकूँ अपनायो।
घोड़े घायल भये चले नहिँ मैं घबरायो॥
सब शत्रु जिते विरयो डर्यो हरि नेह निहार्यो।
समुझि श्याम संकेत बाणतें नीर निकार्यो॥
हय प्याये तेराइकें, शर निकारि मलि जोरि रथ।
चले, शत्रु मोहित करे, गये त्यागि अब हम विरथ॥